भागवत-दर्शन
भागवती कथा
११
१४वाँ
खण्ड
लेखक
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

To. Bishnu. Das Malu.

Pin-742133.

[श्री जड़भरतजी]

श्री भागवत-दर्शन ॐ

भागवती कथा

(चतुर्दश खण्ड)

★

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर

(झूसी) प्रयाग

चतुर्थ संस्करण
१००० प्रति

आषाढ़ कृष्ण २०२९
जुलाई १९७२

मूल्य—१.६५

मुद्रक-बंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग ।

विषय-सूची

कर्मों का भोग

[भूमिका]

परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत् ।
विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च ॥
परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति ।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २८ अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

चिन्तन या अनुकूल करे प्रतिकूल भलें नर ।
होइ दोष गुण युक्त भाव मन माहिँ करें घर ॥
जाको देखे दोष करें निन्दा जो जाकी ।
आवें तामें वही दशा होवे सो ताकी ॥
भव को कारन भाव हैं, करि चिन्तन भव महँ परो ।
चाहें चिन्तो राग तैं, दोष बुद्धि चाहें करो ॥

जो दूसरों को खाई खोदता है उसके लिए कूप तैयार हो जाता है । जो दूसरों की बुराई करता है उसमें वह बुराई स्वतः ही आ जाती है । जो दूसरों को बुरा कहता है वह स्वयं भी बुरा बन

---

* स्वयं साक्षात् भगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! प्रकृति और पुरुष से निर्मित इस विश्व को एकात्मक देखते हुए बुद्धिमान् पुरुष को न तो दूसरों के स्वभाव की तथा कर्मों की प्रशंसा ही करनी

जाता है। बुराई से बुराई उत्पन्न होती है भलाई से भलाई। चिन्तन चाहे राग बुद्धि से करो या द्वेष बुद्धि से चिन्तनीय वस्तु में आसक्ति हो ही जाती है। रुक्मिणी जी राग से श्रीकृष्ण का चिन्तन करती थीं कंस द्वेष से। दोनों को ही श्रीकृष्ण की प्राप्ति हुई। जिस वस्तु में आसक्ति अनुरक्ति न होगी उससे हम द्वेष क्यों करेंगे ? जिसे हम चाहते हैं, जो हमें किसी भी कारण से प्राप्त नहीं होती तो हम ईर्ष्यावश उससे द्वेष करते हैं, बुराई करके ही उसके प्रति अपनी अनुरक्ति व्यक्त करते हैं। राग से जिसका उपभोग नहीं कर सकते द्वेषवश उसी की बुराई करते हैं। अंगूरों के प्रति आसक्ति है न मिलने पर उन्हें खट्टे बताते हैं। इस खटाई के कथन में भी राग है। द्वेष में राग छिपा है।

बहुत दिनों की बात है। एक बार मैं श्री वृन्दावन धाम में गया। तब मेरी "चैतन्य चरितावली" पुस्तक प्रकाशित ही हुई थी। लोगों ने उस पुस्तक का बड़ा आदर किया। उसी के कारण बहुत से कृपालु सन्त भगवत भक्त वैष्णव मेरे ऊपर अत्यधिक स्नेह करने लगे। उन दिनों श्री वृन्दावन में गुजरात के एक बड़े अच्छे सरल भगवद्भक्त वैष्णव निवास करते थे। वे गुजराती के भी लेखक थे। और चैतन्य सम्प्रदायान्तर्गत किसी शाखा के शिष्य थे। मैं उनके दर्शनों को गया। वे रुग्ण थे। एक बङ्गालिनीमाई उनकी सेवा सुश्रूषा में जुटी थीं। वृन्दावन में सेवा करने को भजनाश्रम की बङ्गालिनि माइयाँ अति

चाहिये और न निन्दा ही। जो दूसरों के स्वभाव तथा कर्मों की निन्दा या प्रशंसा करता है वह शीघ्र ही परमार्थ पथ से च्युत हो जाता है, क्योंकि उसने असत में सत का आरोप कर लिया है। निन्दा और स्तुति दूसरों की होती है।"

स्वल्प वेतन पर मिल जाती हैं। पुरुष सातजन्मों में भी स्त्री की भाँति सेवापरायण नहीं हो सकता। सेवा करना भारतीय ललनाओं का सहज स्वभाव है। उन्हें सेवा सिखानी नहीं पड़ती वे माता के उदर से ही सीखी सिखाई आती हैं। हाँ, तो वह वङ्गालिनी माई बड़ी तत्परता से उन वैष्णव महात्मा की सेवा कर रही थी। बातों ही बातों में उन वैष्णव ने मुझे बताया—"पहिले मैं स्त्रियों की बड़ी निन्दा किया करता था, कभी किसी से किसी प्रकार सम्पर्क नहीं रखता था। अब बीमार होकर यहाँ पड़ा हूँ, कोई पूछने वाला नहीं, यह माई आती है सेवा कर चली जाती है। श्रीजी शिक्षा दे रही हैं जिनकी तुम बुराई करते थे वे ही तुम्हारी रक्षा करेंगी।"

किसी साधना द्वारा नहीं, बाल्यकाल से ही मेरी गृहधर्मों में प्रवृत्ति नहीं गृहस्थी के झंझटों से दूर रहकर कीर्तिलाभ करें। परोपकार करें कुछ भगवत् चिन्तन हो यही इच्छा हो रही है। बिना वैराग्य के निस्तार नहीं, ये भाव वंश परम्परा से भारतीय होने के नाते हमें बिना सिखाये ही प्राप्त हैं। जीवन में एक बार वैराग्य का उफान आया। धन का, रूप का, अधिकार आदि का अभिमान उतना दुखद नहीं होता, जितना त्याग वैराग्य का अभिमान दुखद होता है। अपने जीवन में बहुत से लँगोटीबंदों को मैंने देखा है, मैं स्वयं भी रह चुका हूँ। उस त्याग के अभिमान में दूसरों को तुच्छ समझना बड़े लोगों का गुरुजनों का अपमान करना जिनसे यह पाप न बना हो, उनका त्याग यथार्थ है। नहीं तो त्यागाभिमानी का पहला कार्य यह होता है, अपने से श्रेष्ठ प्रतिष्ठित प्रसिद्ध पुरुषों के छिद्रान्वेषण करना और उनकी तथाकथित बुराइयों का प्रचार करके अपने त्याग वैराग्य को श्रेष्ठ सिद्ध करना।

जिन दिनों लँगोटी लगाकर त्याग का मिथ्याभिमान धारण

करके मैं गंगा किनारे पैदल घूमता था। तब किसी साधु को सुन्दर-सी पक्की कुटी में रहते देखता उसी पर टूट पड़ता, "तुममें और गृहस्थों में क्या अन्तर है।" किसी साधु के यहाँ औषधियों को रखे देखता तो कहता—"ये साधु अनाप शनाप खा जाते हैं, फिर दवा दारू ढूँढ़ते हैं।" उन दिनों नया रक्त था, अग्नि तीव्र थी मन्दाग्नि अजीर्ण से परिचय नहीं था। साधु को बीमार देखते ही उससे घृणा करने लगते। किसी पर अधिक वस्तुओं का संग्रह देखते, उसकी हँसी उड़ाते। किसी के पास स्त्रियों को बैठे देखते उन्हें चरित्रहीन बताते। बिना देखे केवल मिथ्या सन्देह पर ही उन पर बुरे-बुरे लांछन लगाते। एक बड़े प्रतिष्ठित महात्मा के यहाँ कुछ महिलाएँ रहती थीं। उनके भाव कैसे थे उनको मैंने देखा नहीं। केवल दूसरों से सुनकर सबके सामने मैंने उनको बुरा भला कहा। एक बड़े प्रतिष्ठित महात्मा नौका पर रहते थे। वे प्रायः बीमार रहते थे। बीमारी के कारण आवश्यक सामान भी रखते थे। उनकी मैंने तथा मेरे एक साथी ने ऐसी हँसी उड़ाई, ऐसी-ऐसी बातें उनसे कहीं, कि वे ही ज्ञानी महात्मा थे जो हँसकर टाल गये। हँसी-हँसी में उन सबके उत्तर देते रहे, आज हम दोनों में से एक तो गृहस्थी बन गये। दूसरा मैं हूँ। जो न साधु ही रहा न गृहस्थ ही बना। उभय-भ्रष्ट होकर पुस्तकें बेच रहा हूँ, जिन बातों की आलोचना करता था वे सभी बातें मुझमें आ गईं। बँगले में रहता हूँ। (पुआल का ही सही) गद्दा बिछाता हूँ, मशकहरी (मसहरी) लगाता हूँ, षट्रस बने विविध पदार्थ (भगवान् को दिखाकर) खाता हूँ। सभी से मिलता जुलता हूँ। सारांश कि जिन बातों को बुरी बताया था उन्हें ही विवश होकर परिस्थिति के अनुसार मैं करने लगा।

मनुष्य में यह स्वाभाविक दोष है, कि दूसरा जिन कामों को

करे उनमें उसे दोष ही दोष दिखाई देते हैं। फिर उन्हीं को स्वयं करने लगे, तो विविध युक्तियों द्वारा उन्हीं का समर्थन करने लगता है, बहुत से लड़के मेरे पास आते थे, कीर्तन की बुराई करते थे, मेरे साथ कीर्तन करने में संकोच करते थे। फिर वे ही नेता बनकर कीर्तन कराने लगे। तो रात्रि-रात्रि भर जागकर कीर्तन करते देखे गये। उसमें उनका अपनत्व हो गया। संवत् १६८८ के राष्ट्रीय आन्दोलन में तथा मेरे साथी इस अँग्रेजी सरकार की ऐसी-ऐसी बुराई करते थे। उनकी प्रत्येक बात की ऐसी कटु अलोचना करते थे। अब जब हमारे वे ही साथी शासनारूढ़ होकर उन पदों पर पहुँच गये तो उनसे भी बड़ी बुराई कर रहे हैं। और बड़े गर्व से उनका समर्थन कर रहे हैं। बात यह है। कि उस बुराई में अपनी वासना पूर्ति की भावना छिपी रहती है। जब उस वासना पूर्ति का अवसर आ जाता है, तो वही प्रतिकूल अलोचना अनुकूलता का रूप धारण कर लेती है। पहिले मैं लेखक प्रकाशक और प्रेस वालों की बड़ी खरी आलोचना करता था। आज मैं स्वयं प्रकाशन के चक्कर में फँस गया हूँ। अब किसी प्रेस वालों को देखता हूँ, तो बड़े प्रेम से मिलता हूँ उससे दूर का नाता निकाल कर सम्बन्ध स्थापित करता हूँ। औरों से अधिक उसका स्वागत सत्कार करता हूँ। भागवती कथा का जिसके द्वारा प्रचार प्रसार हो उसके प्रति स्नेह प्रकट करता हूँ। 'सर्वःस्वार्थ समीहते।'

कुछ लोग कहते हैं—"अजी, महाराज! आपका क्या स्वार्थ। आप तो सब परोपकार के लिए कर रहे हैं। आपकी दुकानदारी नहीं है आपको क्या लाभ होता है? उलटे हानि ही उठानी पड़ती है।" यह सब बातें मुँह देखे की हैं। चाहें आर्थिक लाभ न भी होता हो, किन्तु मनुष्य आर्थिक लाभ के ही लिये तो सब कुछ करता नहीं। आर्थिक लाभ तो अधम लाभ

बताया है। नाम के लिये, यश तथा प्रतिष्ठा के लिये लोग धन को पानी की भाँति बहाते हैं। फाँसी के तख्ते पर हँसते-हँसते चढ़ जाते हैं। पहिले नाम के पीछे रायसाहब रायबहादुर लग जाने के लिये लोग लाखों रुपये व्यय करते थे। दुकान में लाभ ही होता हो, सो बात नहीं हानि भी होती है। लोग अपने नाम के विज्ञापन के लिये अपनी वासना पूर्ति के लिये क्या-क्या नहीं करते। वास्तव में सर्वत्र भागवती कथा का भगवन्नाम कीर्तन का प्रचार हो, वह भी मेरे ही प्रयत्नों द्वारा यह मेरे मन उत्कट वासना है। उसी वासना के वशीभूत होकर ये सब व्यापार कर रहा हूँ। इतनी सब खट-पट में पड़ा हुआ हूँ। हे भगवान्! कैसे चक्कर में तुमने फँसा दिया मुझे? सब अपने किये कर्मों का फल है। जैसा बीज बोओगे वैसा फल चाखोगे।

पहिले विचार ऐसा ही था कि ५० ६० भागों में यह पुस्तक पूरी हो जायगी। किन्तु जब लिखने बैठा तो ऐसा लगा कि इतने में पूरी न हो सकेगी। आज मैंने ७०१ वाँ अध्य लिखा है उसमें नवम स्कन्ध के ११ वें अध्याय के १८ वें श्लोक की कथा लिखी है। अनुमानतः प्रत्येक खण्ड में २० अध्याय होते हैं नववाँ स्कन्ध पूरा होते मेरा अनुमान है ५० खण्ड हो जायँगे, नवम स्कन्ध तक तो भागवत की भूमिका ही है (दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्) मुख्य भागवती कथा तो दशम स्कन्ध से आरम्भ होती है। दशम में कम से कम ५० खण्ड तक तो रख ही लीजिये। ११ वें १२ वें में ८ से क्या कम होंगे। इस प्रकार १०८ खण्ड का अनुमान लगाया है। यह भी बहुत संक्षेप में जब लिखा जाय तब है। एक-एक श्लोक को ध्यान से देखने पर ऐसा लगता है, कि इसके ऊपर तो ग्रन्थ भी लिखा जाय तो भी थोड़ा है। मुझे लिखने में बड़ा आनन्द आता है। यदि देश काल का बन्धन न हो बाहरी और कोई झंझट न हों तो मैं निर-

न्तर लिखता ही रहूँ। भागवती कथा तो अनन्त है, उसका आदि नहीं, अन्त नहीं, अवसान नहीं, समाप्ति नहीं। हम काल के जाल में फँसे प्राणी अपने स्वार्थवश उसे संक्षिप्त करते हैं। गंगाजी की लहरों को प्रातः से सायंकाल तक गिनने के अनन्तर हम कहते हैं आज १०८ लहरें आयीं कहाँ से, वे जो अनादि काल से आ रही हैं, अनन्तकाल तक आती रहेंगी। हमने काल की सीमा करके एक दिन बीच से गणना करके मिथ्या संख्या का आरोप कर लिया है।

इन कथाओं में मेरा अपना तो कुछ है ही नहीं। बगीचा से फूल लेकर माली एक हार बना देता है, उसमें डोरा ही उसका है, नहीं तो माला का एक फूल भी ऐसा नहीं जो वाटिका का न हो। डोरा भी उसका अपना बनाया नहीं। वह भी दूसरों द्वारा निर्मित है। माली तो माला में निमित्त मात्र है। इस प्रकार भागवती कथा की सभी कथायें व्यासजी के समस्त शास्त्रों से सार रूप में ली गई हैं। सूतजी की कृपा से शौनकादि मुनियों के अनुग्रह से ये सुनी गई हैं। मेरा इसमें मिथ्याभिमान के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इसलिये प्रत्येक खण्ड के प्रथम पृष्ठ पर यह श्लोक लिखा रहता है—

> व्यास शास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता।
> कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा'॥

व्यास शास्त्र रूप उपवन से फलों को चुन चुनकर प्रभुदत्त ने यह भागवती कथा रूप माला बनाई है। इसीलिये यह तो नित्य वस्तु है। इसका जितना भी विस्तार किया जाय उतना ही कम है।

कुछ लोग कहते हैं—"महाराज! १०८ खण्ड तो बहुत हैं। कौन इन्हें खरीदेगा। बड़े दाम हैं। अमीरों की भगवान् की कथाओं में रुचि नहीं। गरीब इतनी बड़ी पुस्तक को खरीद नहीं

सकते। फिर कब तक यह प्रकाशित होगी ? प्रतिमास एक प्रकाशित हुई तो ९ वर्ष लगेंगे। इतना धैर्य कहाँ ? इतना रुपया छपाई को कहाँ से आवेगा आदि-आदि।"

इन सब बातों का एक ही उत्तर है। भगवान् को जो कार्य करना होता है, वह असम्भव दिखाई देने पर भी सम्भव हो जाता है। जो नहीं करना होता तो सब साधन सुलभ होने पर भी वह पूरा नहीं होने पाता। मनुष्य का अधिकार कर्म करने में है। फल देना न देना भगवान् के ऊपर है। जिनके पास धन है वे सभी तो कथा कीर्तन में व्यय नहीं कर सकते। वे करना भी चाहें तो नहीं कर सकते। उनका ऐसा भाग्य ही नहीं। इनका जैसा द्रव्य होगा वैसे ही काम में लगेगा। यों हिसाब जोड़ें, तब तो एक दिन भी जीना नहीं हो सकता। एक टीन महीने में घी का खर्च है। ५० वर्ष भी जिये लगभग दस हजार रुपये का हुआ। "हाय ! दस हजार कहाँ से आवेंगे। घी ही खाना बन्द कर दो !" ऐसा सोचकर कोई घी खाना बन्द नहीं करते। जीवन के आवश्यक कार्यों को पैसा बचाये जाते हैं। गरीब भी यदि किसी अपराध पर पकड़ा जाय तो उसे छुपाने को जैसे-तैसे कहीं से भी १००)-२००) इकट्ठे करेंगे ही। आवश्यकता अपने आप प्रबन्ध कर लेती है। ३० दिन में १।) बचाना साधारण लोगों के लिये कठिन नहीं आज कल तो सब कामों में चन्दा का प्रचार हो गया है। एक १।) नहीं दे सकता, २० आदमी एक-एक आना इकट्ठा करके मँगा सकते है। सुन सकते हैं सुना सकते हैं। जिनको भागवती कथा से प्रेम होगा वे तो प्रबन्ध कर ही लेंगे। जिनको प्रेम न होगा। उन्हें यदि बिना मूल्य भी दे दें तो उनके यहाँ रद्दी में पड़ी ही रहेगी। छपाने का तो मेरा काम है नहीं। अपनी शक्ति भर प्रयत्न करूँगा, न सफल हुआ भगवान् की इच्छा, लोगों के पहले ही विचार थे, पता नहीं १२ खंड निकलेंगे या नहीं। हमारे रुपये

खटाई में तो न पड़ जायेंगे। यह मैं पाठकों को विश्वास दिलाता हूँ कि १४) १५) हमारी दृष्टि में कोई महत्व की कोई वस्तु नहीं। उन्हें मारने को हम कोई ढोंग नहीं रच सकते। हमारी इच्छा इसके प्रचार की है, यदि हम विवश ही हो गये न छापने को तब की बात दूसरी है। सो भी किसी के दाम मारने का हमारा विचार नहीं। न बिकने पर दाम लौटाने का हमारा दृढ़ निश्चय है। यदि ऐसा हुआ भी कि न तो हम आगे के खण्ड निकाल ही सकें, न दाम ही लौटा सकें तो भी पाठक संतोष करें। उन्हें घाटा नहीं हम पहिले कह चुके हैं—

गङ्गाजी को न्हाइबो, विप्रनि तैं व्योहार।
डूबि जाइ तो पार है, पार जाय तो पार॥

यह चौदहवाँ खण्ड आप पर पहुँच ही गया। पन्द्रहवाँ छप ही रहा है। इसी प्रकार पहुँचते रहेंगे। परिस्थिति अनुकूल होते ही महीने में दो खण्ड निकालने का विचार है। साथ ही पिछले खण्ड समाप्त होते हैं। उन्हें भी छापना पड़ता है जब तक भागवती कथा के पाठक इसमें पूर्ण सहयोग न देंगे तब तक इतना बड़ा कार्य चलाना कठिन है। अतः सभी उद्योग करें सभी इसके अधिक से अधिक ग्राहक बढ़ावें, प्रचार करें दूसरी-दूसरी भाषाओं में भी भगवती कथा निकलनी आरम्भ हो गई है। तेलगु में निकलने लगी, अब गुजराती में निकलने वाली है। अपना प्रेस न होने में बड़ी कठिनता पड़ती है। अब पाँचवें खण्ड की एक भी प्रति यहाँ कार्यालय में नहीं है। छठा भी समाप्त है। देखिये भगवान् क्या करते हैं। पाठकों को यदि यह कथा रुचिकर है तो सभी भगवान् से प्रार्थना करें कि ये सब खंड पूरे होकर प्रकाशित हो जायँ, साथ ही मेरे लिये भी प्रार्थना करना न भूलें कि मेरी प्रभु पाद पद्मों में भक्ति हो, भगवान् के सुमधुर नामों में और उनकी लोक पावन कथाओं में अनुरक्ति हो और उनके

प्रचार और प्रसार की शक्ति हो। जैसे भागवती कथा अनन्त है, वैसी ही मेरी कथा भी अनंत है, किन्तु गङ्गाजल के सम्मुख मोरी का जल रखकर पाठकों की रुचि क्यों बिगाड़ूँ, अतः अब मेरी कुकथा न सुनकर भागवती सुकथा श्रवण कीजिये।"

छप्पय

को जग ऐसो पुरुष दोष जामें नहिँ होवै।
क्यौं परनिन्दा करै व्यर्थं गुन अपने खोवै॥
ताइ गुननि तैं काम देखि गुन तजि कें अवगुन।
जो सोचे जो कहे होहि तैसोई तब मन॥
तातैं तजि के दोष गुन, कृष्ण चरणमहँ सौंपि चित।
करि हरि कीर्तन नियम तैं, भागवती सुन कथा नित॥

गङ्गाजी के बीच नौका में
संकीर्तन भवन झूसी
फाल्गुन-शु० ९।२००४

पाठकों का कृपाभिलाषी
प्रभुदत्त

प्रचेताओं को नारदजी का सदुपदेश

(३०५)

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः ।
नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० ३१ अ० ६ श्लोक)

छप्पय

सबई पूछें प्रभो! सार उपदेश सुनाओ ।
मन की काई सीख लटाई लाइ मिटाओ ॥
नारद बोले—सुनो, सफल वह जन्म कर्म मन ।
जातें सुमिरन होहि कृष्ण को धन्य वही तन ॥
वेद पढ्यो तप करि कहा? काल बितायो योग करि ।
प्रेम बिना सब व्यर्थ है, जो नहिँ कीन्ही भक्ति हरि ॥

जो कर्म हमें अधिकाधिक चिन्ताओं में जकड़कर संसार के बन्धन में फँसाता है, वह कर्म नहीं कुकर्म है। सफल कर्म वही है जो हमें साधन की सोपानों से चढ़ाकर शान्ति के शिखर तक

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब प्रचेताओं ने प्रश्न किया तब नारदजी उसका उत्तर देते हुए कहने लगे—"प्रचेताओ! इस लोक में मनुष्यों का वही जन्म, वे ही कर्म, वही आयु, वही मन और वे ही वचन सार्थक हैं, जिनके द्वारा सर्वात्मा ईश्वर श्रीहरि का सेवन किया जाता हो।"

पहुँचाता है। जो मौन हमारे मुख को मोड़कर मोहन की ओर ले जाता है, वही वास्तविक मौन है। नहीं तो वाणी बन्द करके मौनी बाबा बन के पेट भरने की एक ठग विद्या है। व्रत वही सफल है जो हमें बनवारी के पादपद्मों तक पहुँचा दे। जिस व्रत से ऐसा नहीं होता वह तो एक कमाने खाने का साधन है वर्णाश्रम धर्मों का समाहित चित्त से पालन इसलिये किया जाता है कि उनके करने से प्रभु के पादपद्मों में दृढ़ अनुराग हो। जिन कर्मों से ऐसा नहीं होता वे तो केवल श्रम मात्र ही है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुर! जब प्रचेताओं ने देवर्षि नारदजी से परमार्थ सम्बन्धी ऐसा पुनीत प्रश्न किया, तब पुण्य कीर्ति प्रभु के पादपद्मों में अपने मन को स्थिर करके भगवान् नारदजी उन राजाओं से कहने लगे—"बेटाओ! मैंने तुम्हारे पिता प्राचीनवर्हि को भी आत्म ज्ञान का उपदेश दिया था, उसी का सार मैं तुम्हें सुनाता हूँ तुम लोग समाहित चित्त से श्रवण करो। जिन कर्मों के द्वारा सर्वान्तर्यामी श्री हरि प्रसन्न हो जायँ वास्तव में वे ही तो कर्म हैं शेष कर्म व्यर्थ हैं, संसार बन्धन को कसने वाले हैं, चौरासी के चक्कर को जकड़ने वाले हैं पुरुष को पकड़ने वाले हैं। जिस जन्म से फिर जन्म धारण करना पड़े, वह जन्म न होकर जञ्जाल है। वही जन्म सार्थक है जिसे लेकर फिर जन्म न लेना पड़े। आयु वही सार्थक है, जिसकी प्रत्येक स्वाँस श्री हरि के काम में आवे। नहीं तो वह आयु निरर्थक है, समय का दुरुपयोग है। उसी मन को मन कहा जा सकता है। जो मन मोहन की माधुरी मूरति में फँसा रहे। जो मन विषयों का मनन करता रहता हैं। वह तो बहेलिया है। उसका काम तो निरन्तर हिंसा करके पाप की गठरी को गुरु बनाना है। वचन वे ही सार्थक हैं, जिनके द्वारा श्रीहरि के सुमधुर नामों का निरन्तर उच्चारण होता रहे। भगवान् के

नाम और गुणों को छोड़कर दूसरी बात बोले ही नहीं।

प्रचेताओं ने पूछा—"भगवन्! जितने समस्त श्रेय हैं उन सब को अवधि क्या है! किसके लिये ये सब किये जाते है ?"

नारदजी ने कहा—"देखो बच्चो! आत्मप्रद श्रीहरि ही सम्पूर्ण प्राणियों के प्रिय से भी प्रिय आत्मा हैं। श्री हरि की उपलब्धि ही वास्तव में समस्त श्रेयों की अवधि है वे ही आत्मा हैं उनका ज्ञान ही आत्मज्ञान कहलाता है। उनका दर्शन ही आत्मदर्शन है। अन्तःकरण द्वारा उनका आलिंगन करना ही आत्मरति अथवा आत्म क्रीड़ा है। जिन कर्मों के द्वारा उनकी प्राप्ति हो, वे कर्म तो सार्थक हैं, शेष सभी निरर्थक कर्म कहे गये हैं!

वेदों में शौक्र, सावित्र और याज्ञिक तीन श्रेष्ठ जन्म बताये गये हैं। शुद्धकुल में उच्चवंश में जन्म लेना यह शौक्र जन्म कहलाता है! उच्चकुल में जन्म लेकर भी शास्त्रीय संस्कार न हुए तो वह व्रात्य संस्कारहीन द्विज कहा गया है जन्म के पश्चात् पाँचवें छठे आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत संस्कार होकर जो गायत्री मंत्र का उपदेश होता है, वह दूसरा सावित्र जन्म कहलाता है। इसके अनन्तर वेदाध्ययन करके विवाह के अनन्तर जो बड़े-बड़े यज्ञों की दीक्षा ली जाती है वह याज्ञिक जन्म कहलाता है। ये तीनों जन्म भी विधिविधान पूर्वक श्रेष्ठ भी हों और इनके करने पर भी यदि हृदय में भगवद् भक्ति उत्पन्न नहीं होती, तो इनका कोई विशेष महत्व नहीं। चाहे आप जितने वेदोक्त शुभ कर्म कीजिये, चाहे आपकी मन्वन्तर अथवा कल्प की भी दीर्घ आयु क्यों न हो, चाहे आप चारों वेदों के वक्ता ही क्यों न हों, चाहे आप तपस्या करते-करते शरीर ही को क्यों न सुखा डालें, चाहे आप संसार में सर्वश्रेष्ठ प्रभाव शाली वक्ता ही क्यों न बन जायें, चाहे आपकी स्मरण शक्ति कितनी भी तीव्र क्यों न हो, आप एक

साथ सैकड़ों सहस्रों बातों को स्मरण करके क्यों न बता दें, चाहे आप कितने भी भारी बलवान् क्यों न हो, चाहे आपकी इन्द्रियों में कितना भी अधिक तेज और ओज क्यों न हो, चाहे आप योग शास्त्र के कितने भी "प्रखर वक्ता क्यों न हों" चाहे आप संख्या शास्त्र और न्याय शास्त्र के कितने भी धुरंधर विद्वान् क्यों न हों, चाहे आप समस्त शास्त्रों में कितने भी पारंगत क्यों न हों, चाहे आप कितनी भी लौकिक, वैदिक विद्याओं के विशारद क्यों न हों, यदि इन सबसे सर्वान्तरयामी प्रभु के पादपद्मों में प्रीति न हो, भगवान् की भक्ति न हो तो सब व्यर्थ हैं, निरर्थक हैं, वन्धन के कारण हैं। सम्पूर्ण प्राणियों में जब तक दया के भाव न होंगे जब तक हृदय से हम सबसे प्रेम करना न सीखेंगे तब तक सभी साधन अधूरे हैं।

प्रचेताओं ने पूछा—"प्रभो! सबसे प्रेम कैसे करें? वहुत से हमसे स्वाभाविक ही द्वेष रखते हैं। बहुतों को हम जानते नहीं। बहुतों से बातें नहीं कर सकते। अपने मनोगत भावों को उन्हें समझा नहीं सकते। फिर सबसे एक साथ प्रेम करना तो कठिन प्रतीत होता है।"

यह सुनकर नारदजी बोले—"बच्चो सबके समीप जाने की आवश्यकता नहीं है। देखो, तुम्हारे शरीर में कितने अंग हैं हाथ, पैर, मुँह, आँख, कान, नाक, उँगली और भी बहुत से अङ्ग हैं। तुम्हें इन सब अंगो को पृथक-पृथक् आहार देने की आवश्यकता नहीं है। आँखों में तेज लाने को अलग गरमा गरम हलुआ भरो। पैरों में शक्ति लाने को उन्हें अलग दूध पिलाओ हाथों को पृथक् पूड़ियाँ खिलाओ, आप केवल मुँह के द्वारा आहार को पेट में पहुँचा दो, सभी अंगों की नस-नस की तृप्ति हो जायगी। वृक्ष में कितनी शाखायें तथा उप शाखायें हैं।

कितने पत्ते फल फूल आदि हैं। उन सबको पृथक्-पृथक् पानी पिलाने की आवश्यकता नहीं। आप जड़ में पानी डाल दीजिये। पत्ते-पत्ते की तृप्ति हो जायगी। इसी प्रकार तुम प्रभु से प्रेम करो। भगवान् को अपना सर्वस्व समझो। सबके रोम-रोम में वे ही तो रम रहे हैं। सबके हृदय देश में विराजकर वे ही तो प्रेरणा कर रहे हैं, सबसे वे ही तो कार्य करा रहे हैं तुम उनसे सम्बन्ध जोड़ लो फिर सभी तुम्हारे सगे सम्बन्धी हो जायँगे। वर विवाह करने जाता है तो सबसे पृथक्-पृथक् सम्बन्ध नहीं जोड़ता। लड़की के संग विवाह कर लेता है। विवाह करते ही उससे सम्बन्ध रखने वाले जितने भी स्त्री पुरुष हैं, सभी सम्बन्धी बन जाते हैं। कोई ससुर हो जाता है, कोई शाला, कोई शाली, कोई सरहज। इसी तरह भगवान् से प्रेम होने पर प्राणिमात्र प्रेम करने लगते हैं। भक्त का कोई शत्रु नहीं। वह सबको अपना सुहृद् समझता है, क्योंकि उसके स्वामी श्रीहरि सभी भूतों के स्वाभाविक सुहृद हैं।"

प्रचेताओं ने पूछा—"भगवन्! तब इस चराचर जगत् से प्रेम करें या भगवान् से प्रेम करें? यह जगत् ही कार्य है, भगवान् उसके कारण हैं। जगत् वृक्ष है, भगवान् उसके बीज हैं। हैं तो ये परस्पर में भिन्न-भिन्न? इनमें श्रेष्ठ कौन है? इनमें भेदभ-भाव से उपासना करें या अभेद भाव से?"

यह सुनकर नारदजी हँस पड़े और बोले—"भैया! तुम लोग तो सब जानते हो, तुम्हें तो स्वयं साक्षात् श्रीहरि शंकरजी ने भली भाँति समझा दिया है। देखो, सूर्य को वारितस्कर कहा है; वे ग्रीष्मकाल में सम्पूर्ण प्राणियों के देहों से वापी, कूप तगाड़ों से तथा समुद्र में से जल खींचकर अपने में लीन कर लेते हैं। जहाँ वर्षा काल आया उसी जल को उगल देते हैं। इसी प्रकार यह चराचर विश्व प्रलयकाल में विराट

भगवान् के अङ्ग में लीन हो जाता है। जब सृष्टि का समय होता है, उन्हीं से सभी प्राणियों की उत्पत्ति होती रहती है। यह प्रवाह अनादि काल से चल रहा है। अनन्त काल तक चलता रहेगा। मिट्टी के घड़े हैं, सकोरे हैं, करवे हैं, नाना भाँति के बर्तन हैं। मिट्टी से बने हैं, अन्त में मिट्टी में ही मिल जायँगे। समय आने पर फिर बन जायँगे। इसी प्रकार यह गुण प्रवाह उत्पन्न होता रहता है उन्हीं में लीन होता रहता है।"

प्रचेताओं ने कहा—"हाँ, महाराज! यह तो ठीक ही है किन्तु जल तो भिन्न है, सूर्य भिन्न है, जल और सूर्य एक तो नहीं हो सकते?"

नारदजी ने कहा—"राजपुत्रो! यहाँ भिन्न अभिन्न से प्रयोजन नहीं। यहाँ तो प्रवाह की नित्यता में दृष्टांत था। जगत् और हरि में वास्तविक कोई भेद नहीं है यह दृश्य जगत् तन श्री हरि का स्थूल रूप ही है। जैसे सूर्य और उनकी प्रभा। प्रभा को आप सूर्य से पृथक् कर सकते हैं? दुग्ध और धवलता सुवर्ण और कान्ति जिस प्रकार इनमें यह परस्पर में अभिन्नता है उसी प्रकार जगत् और श्रीहरि में अभिन्नता है अपने शरीर में ही समझ लो। जाग्रत अवस्था में इन्द्रियाँ कार्य करने लगती हैं। सुषुप्ति अवस्था में लीन हो जाती हैं, निश्चेष्ट सी बन जाती हैं। उसी प्रकार सृष्टि काल में यह जगत् श्रीहरि के शरीर से प्रकट हो जाता है। प्रलयकाल में उन्हीं के श्री अङ्ग में विलीन होकर निश्चेष्ट–सा बन जाता है।"

प्रचेताओं ने कहा—"भगवन्! एक शंका इसमें और शेष रह जाती है। जैसे, जितने प्रकार के द्रव्य हैं जितनी क्रियायें हैं और यह ऐसी है वैसी नहीं है इस प्रकार का जो यह ज्ञानात्मक भेद भ्रम है, तब फिर यह तो ईश्वर में ही सिद्ध हुआ। जब ईश्वर में यह भेद भ्रम है तो वह ज्ञान स्वरूप कैसे हुआ?"

नारदजी ने गम्भीरता से कहा—"अच्छा देखो, आकाश में तुम्हे क्या-क्या दिखाई देता है ?"

प्रचेताओं ने कहा—"महाराज ! आकाश में हमें सूर्य, चन्द्रमा ग्रह, नक्षत्र तारे ये सब दिखायी देते हैं।"

नारदजी ने कहा—"इसका अभिप्राय यह हुआ कि तुम्हें प्रकाश आकाश में दिखाई देता है। प्रकाश के अतिरिक्त और कुछ दीखता है ?"

प्रचेताओं ने कहा—"और कभी-कभी बादल भी दिखायी देते हैं।"

नारदजी ने कहा—"बादलों के अतिरिक्त श्रावण भादों की अमावस्या की अँधेरी रात्रि में क्या दीखता है ?"

प्रचेताओं ने कहा—"उस समय तो महाराज ! सिवाय अंधकार के और कुछ भी दिखाई नहीं देता।"

नारदजी ने शीघ्रता से कहा—"हाँ, ठीक है। अन्धकार तो दीखता है भाई। तुम्हारा कहना यही है सिवाय अंधकार के और कुछ नहीं दीखता। अर्थात् अन्धकार दीखता है। दीखता तो है, अन्धकार ही सही। अब आकाश में प्रकाश, बादल, अंधकार ये उत्पन्न होते हैं, अन्त में उसी में लीन हो जाते हैं, किन्तु आकाश सदा निर्लिप्त बना रहता है कोई यह नहीं कह सकता कि प्रकाश अन्धकार या बादलमय आकाश है। इसी प्रकार भगवान से रज, तम आदि गुण उत्पन्न होते रहते हैं, लीन रहते हैं यह गुण प्रवाह निरन्तर बहता रहता है, किन्तु श्रीहरि त्रिगुणातीत और निर्गुण ही बने रहते हैं। माया के गुण उन्हें स्पर्श नहीं कर सकते। वे ही कालरूप से इस जगत् के निमित्त कारण प्रकृति या प्रधान रूप से वे ही उपादान कारण और पुरुष रूप से वे ही सम्पूर्ण चराचर जगत् के नियन्ता हैं। वे ही सबमें समान रूप से व्याप्त होने के कारण सबके आत्म स्वरूप हैं। वे ही ब्रह्मादिक

२

देवों के इन्द्रादिक लोकपालों के अधीश्वर हैं। वे ही अपनी चैतन्य शक्ति से सत्वादि गुणों को प्रवाह रूप से चला रहे हैं तथा इस दृश्यमान प्रपञ्च से सदा पृथक् भी बने रहते हैं उन्हीं आत्म-स्वरूप श्रीहरि का तुम अभेद भाव से भजन करो उनके अतिरिक्त किसी की सत्ता नहीं, उनके अतिरिक्त कोई चैतन्य नहीं, उन्हें छोड़कर और किसी में आनन्द नहीं। वे ही सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीहरि ही एकमात्र सबके भजनीय हैं। तुम सर्वात्मभाव से उन्हीं की शरण में जाओ। उन्हीं की प्रसन्नता को सम्पादन करो।"

प्रचेताओं ने पूछा—"भगवन्! भगवान् की प्रसन्नता कैसे प्राप्त हो, इसके उपाय बताइये। भगवत् प्राप्ति, शरणागति के साधन समझाइये।"

नारदजी ने कहा—"राजाओ! भगवान् की प्रसन्नता तो उन्हीं की कृपा के ऊपर अवलम्बित है, फिर भी मनुष्य उनकी कृपा की प्रतीक्षा करते हुए इन साधनों में चित्त लगाये रहे तो उन्हें भगवान् की प्रसन्नता अवश्य प्राप्त हो सकती है सम्पूर्ण प्राणियों में समान रूप से अपने इष्ट की भावना करते हुए दया पूर्वक बर्ताव करे। प्रारब्धवश जो भी प्राप्त हो जाय, उसे ही भगवान् का प्रसाद समझकर पावे, उसमें सन्तुष्ट रहे। अपनी इन्द्रियों को सर्वथा विषयों से रोकता रहे। सभी प्रकार की वासनाओं से सर्वथा दूर रहे। ऐसा करने से मन की मलिनता मिट जाती है, चित्त की चंचलता विलीन हो जाती है। अहङ्कार नष्ट हो जाता है बुद्धि विशुद्ध बन जाती है। इस प्रकार अन्तःकरण के निर्मल हो जाने से भीतर की कोठरी के स्वच्छ हो जाने से, उसमें आकर श्रीहरि विराज जाते हैं। और उस निर्मल हुए सत्य-पुरुष के अन्तःकरण से कभी हटते नहीं। वहाँ निश्चल भाव से वे डटे

रहते हैं। उस विशुद्ध हृदय मन्दिर में विराजमान श्रीहरि की विधिवत् सभी उपचारों से पूजा अर्चा करनी चाहिये।"

प्रचेताओं ने पूछा—"महाराज! पूजा अर्चा के निमित्त सामग्री न मिले या यथेष्ट सामग्री का अभाव हो तो पूजा कैसे करें?"

इस पर नारद मुनि बोले—"देखो, भैया! भगवान् बाहरी पूजा से उतने सन्तुष्ट नहीं होते, जितनी प्रेम से की हुई भावमयी पूजा से सन्तुष्ट होते हैं। भगवान् के यहाँ कुछ धन वैभव की पूजा सामग्रियों की तो कमी है ही नहीं। वे तो सदा प्रेम के भूखे बने रहते हैं। जो अपने धनमद या उच्चकुल के अभिमान में निष्किंचन सज्जनों का तिस्कार करते हैं और बड़ी-बड़ी मूल्यवान् सामग्रियों से भगवान् के श्री विग्रह की अर्चा करते हैं, भगवान् उन मदोन्मत्त अभिमानियों की पूजा को कभी स्वीकर नहीं करते। जो शुद्ध भावना से उनके श्रीचरणों को भावमय पुष्प चढ़ा देते हैं, एक पत्ता तुलसीदल चढ़ा देते हैं। चुल्लू भर जल प्रदान कर देते हैं, तो भगवान् उनकी इसी भावमयी अल्प पूजा से अत्यधिक सन्तुष्ट हो जाते हैं। वे श्रीहरि लक्ष्मीपति होते हुए भी निष्किञ्चन प्रिय हैं, वे षडैश्वर्य सम्पन्न होने पर भी दीनों पर दया करते हैं, कंगालों पर कृपा रखते हैं, और निराश्रितों को आश्रय प्रदान करते हैं। ऐसे अकारण कृपालु सबके सुहृद् दीनों के बन्धु उन श्रीहरि का कौन कृतज्ञ पुरुष परित्याग करेगा? हे प्रचेताओं! तुम सर्वात्मभाव से उन्हीं श्रीहरि की शरण में जाओ। यही तुम्हारे लिये मेरा सारातिसार उपदेश है।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार दशों प्रचेताओं को उपदेश देकर उनके द्वारा सत्कृत होकर हरिगुण गाते हुए नारदजी ब्रह्मलोक को चले गये।"

छप्पय

है जग हरि को रूप उन्हीं तें पैदा होवे।
उनमें ई थिर रहे अन्त महँ उन महँ सोवे॥
सब महँ सत है व्याप्त रूप चैतन्य कहावैं।
सुख स्वरूप भगवान् जीव आनँद तहँ पावैं॥
शरणागत वत्सल अमल, स्वतः तृप्त परिपूर्ण प्रभु।
भक्तवछल अशरण शरण, अज अविनाशी अलख विभु॥

विदुर मैत्रेय सम्वाद की समाप्ति

[३०६]

इत्यानम्य तमामन्त्र्य विदुरो गजसाह्वयम् ।
स्वानां दिदृक्षुः प्रययौ ज्ञातीनां निर्वृताशयः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० ३१ अ० ३० श्लो०)

छप्पय

बिना शरन हरि गये शान्ति सुख जीव न पावै ।
चौरासी महँ भ्रमै विविध योनिनि महँ जावै ॥
तातैं सब कछु त्यागि शरण श्रीहरि की जाओ ।
करिकैं उनको ध्यान परमपद तब तुम पाओ ॥
बोले मुनि मैत्रेय सुनि, ज्ञान प्रचेतनि कूँ भयो ।
विदुर ! सुखद सम्वाद यह, सार मूल तुमतैं कह्यो ॥

संसार में जन्म देने वाले पिताओं की कमी नहीं। जिसमें कुछ भी योग्यता न हो, वह भी पिता बन बैठता है। परोपकारी पुरुष यद्यपि थोड़े ही होते हैं, किन्तु वे भी खोजने से मिल जाते हैं। भूखों को अन्न देकर तृप्त करने वाले, प्यासों की पिपासा को

---

* श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार जिनकी समस्त शंकायें निवृत्त हो गई हैं ऐसे विदुरजी महामुनी मैत्रेयजी को प्रणाम करके और उनसे आज्ञा लेकर अपने बन्धु बान्धवों को देखने के निमित्त हस्तिनापुर को चले गये।"

पौसला चलाकर, वापी, कूप, तड़ाग आदि बनवाकर जल दान करने वाले भी मिलते हैं। अपने द्रव्य से अध्यापक रख कर विद्यार्थियों को विद्या दान करने वाले पुण्यात्मा भी पृथ्वी पर सर्वत्र पाये जाते हैं। असमर्थ, आतुर रोगियों की चिकित्सा कराके उन्हें बिना मूल्य ओषधि देकर उनके दुःख को दूर करने वाले या कम करने वाले दयावान् भी सुगमता से दिखाई दे जाते हैं, किन्तु ज्ञानोपदेश देकर हृदय में उठे हुए समस्त संशयों का मूलोच्छेदन करने वाले सद्गुरुओं का मिलना अत्यन्त ही दुर्लभ है।

अहा ! वह कैसा सुखद समय होता होगा, जब ज्ञान की पिपासा से पिपासित जिज्ञासु शिष्य सद्गुरु की खोज में इधर-उधर भटकता हुआ घूम रहा हो। सर्वत्र उसे निराशा ही निराशा दिखाई देती हो। बड़ी-बड़ी उपदेश की सजी दुकानों के समीप आशा से जाता हो और वहाँ ऊँची दुकानों पर फीका पकवान देखकर, निराश होकर लौट आता हो, उस समय की उसकी मनोवृत्ति, का अध्ययन जिसने किया हो, वह समझ सकेगा, उसके हृदय में कैसे उथल-पुथल होती रहती है सहसा सद्गुरु मिल गये। उनके दर्शनों से ही चित्त हरा हो गया, अपने को अपने ने पहिचान लिया। अन्तःकरण को विश्वास हो गया, यहाँ से निराश न लौटना पड़ेगा। यहाँ पर मेरी बुभुक्षा शान्त हो सकेगी। यहाँ ज्ञान पिपासा के लिये सुखद सुधा की प्राप्ति हो सकेगी। प्रणाम करके अपनी शंकाओं को निवेदन किया। वहाँ से जो उपदेश मिला वह हृदय के साँचे में ज्यों-का-त्यों ठीक बैठ गया। चित्त शान्त हो गया समस्त शंकाओं का सामधान हो गया। हृदय की उलझी हुई गुत्थियाँ सुलझ गईं। समस्त संचित कर्मों का क्षय हो गया, क्रियमाण कर्मों से आसक्ति हट गई। उस समय जो आनन्द होता होगा, उसका वर्णन करना मानवीय शक्ति के परे की बात है। वह कहने की बात नहीं

अनुभवगम्य है। जिस पर सद्गुरु की कभी कृपा हुई हो, वही उसका अनुभव कर सकता है। जिन्हें कभी सद्गुरु के पादपद्मों में बैठने का सौभाग्य ही प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे निगुरे उस आनन्द के विषय में क्या समझ सकते हैं ?

मैत्रेय मुनि ने कहा—"विदुर ! यह मैंने तुमसे जैसी मेरी कुछ बुद्धि थी, जैसा मैंने अपने गुरु के मुखारविन्द से श्रवण किया था वैसा मैंने तुम से नारद और प्रचेताओं का सुखद सम्वाद कहा, अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ? यहाँ तक मैंने तुमसे मनु के पुत्र उत्तानपाद के वंश का वर्णन किया। यह मैं पहिले ही बता चुका हूँ कि महाराज स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्र हुए। उनमें से उत्तानपाद के वंश का परम भक्त ध्रुवजी से लेकर प्रचेताओं तक का वर्णन मैंने क्रम से तुम्हारे सामने कर दिया। अब तुम जो कुछ कहो, वह मैं तुम्हें सुनाऊँ।"

यह सुनकर हाथ जोड़कर नेत्रों से प्रेमाश्रु बहाते हुए विदुरजी गद्गद कण्ठ से बोले—"गुरुदेव ! अब मुझे कुछ भी पूछने को शेष नहीं रहा। अब मेरे सभी संशयों का नाश हो गया। भगवान् के वचनामृत से मेरी सभी शंकाओं का समाधान हो गया। मेरी ज्ञान पिपासा शान्त हो गई।"

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार मैंने विदुर मैत्रेय सम्वाद के रूप में यह दिव्य कथा तुम्हें सुनाई। इसमें मनु वंश के राजाओं के चरित्रों के साथ-ही-साथ भगवान् के अवतारों का, उनकी त्रैलोक्य पावनी लीलाओं का दिव्य-दिव्य उपदेशों का समावेश है। यह उत्तानपाद का वंश सुनाकर अब मैं उनके भाई प्रियव्रत और उनके वंश का चरित्र तुम्हारे सम्मुख सुनाऊँगा।"

यह सुनकर प्रेम में अधीर होकर अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट

करते हुए महाराज परीक्षित् कहने लगे—"प्रभो! आपने यह विदुर मैत्रेय सम्वाद तो बड़ा ही सुन्दर सुनाया। उसे सुनकर तो मेरे रोम-रोम खिल उठे। मेरे पितामहों के भी पूजनीय पितृव्य विदुरजी यथार्थ में भगवत् कृपा के पात्र थे, जिनके लिये ये इस मानवीय तन को त्यागते समय स्वयं साक्षात् भगवान् ने मैत्रेय मुनि को उपदेश देने का आदेश कर दिया था। वैसे ही उनके भगवत् कृपा पात्र साक्षात् भगवत् स्वरूप उनके पूजनीय गुरुदेव भगवान् मैत्रेय थे। मुझे कृपा करके बताइये फिर इन दोनों में क्या-क्या बातें हुईं। मैत्रेय मुनि से शिक्षा पाकर भक्ताग्रगण्य श्रीविदुरजी कहाँ चले गये?"

यह सुनकर श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन्! मैत्रेय मुनि के उपदेश को पाकर कृतकृत्य हुए विदुरजी ने अपने गुरुदेव के चरणों में प्रणाम किया। उनके प्रति आभार प्रदर्शन किया उनकी विधिवत् पूजा करके बोले—"हे महायोगिन्! आप करुणा की साक्षात् सजीव मूर्ति हैं। अज्ञानान्धकार में भटकते हुए मुझ दीन को आपने हाथ पकड़कर उस पार पहुँचा दिया, जहाँ कि अकिञ्चनों के निधि महापुरुषों के प्राप्यस्थान भगवान् वासुदेव विराजते हैं, जहाँ मायिक प्रपञ्च का लेश नहीं। आप की अहैतुकी कृपा से मैं कृतार्थ हो गया। अब मुझे आज्ञा मिलनी चाहिये। सुना है अब पांडव राजा हो गये हैं। धर्मराज युधिष्ठिर को देखने के लिये मेरा चित्त बहुत व्याकुल हो रहा है।"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि ने कहा—"वत्स! तुम्हारा कल्याण हो। तुम बड़े भगवत् भक्त हो मेरे मित्र भगवान् वेदव्यास के पुत्र हो। भगवान् वासुदेव के परम कृपापात्र हो। अब तुम हस्तिनापुर अवश्य जाओ। पांडव भी तुम्हारे दर्शनों को परम लालायित हो रहे हैं, धृतराष्ट्र भी सदा तुम्हारी ही चिन्ता करते रहते हैं। मङ्गलमय श्रीहरि तुम्हारा भला करें। तुम इस दिव्य

ज्ञान को स्मरण रखना। आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र के चरणारविन्दों में सदा चित्त को लगाये रहना।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अपने गुरुदेव की ऐसी आज्ञा और आशिष पाकर विदुरजी उनके चरणों में पुनः-पुनः प्रणाम करके उनकी प्रदक्षिणा करके हस्तिनापुर को चले गये। हस्तिनापुर में पहुँचकर जैसा उनका स्वागत सत्कार हुआ जैसे वे अपने ज्येष्ठ भाई धृतराष्ट्र और गान्धारी को लेकर वन में गये, जैसे उन्होंने प्रभास में जाकर अपने इस नश्वर शरीर का त्याग किया, ये सब कथायें तो मैं तुम्हें पीछे सुना ही चुका हूँ। जो इस विदुर मैत्रेय मुनि के पावन सम्वाद को श्रद्धा सहित श्रवण करेंगे उन्हें दीर्घायु, धन, यश, कल्याण, सद्गति और ऐश्वर्य की प्राप्ति तो होगी ही अन्त में भगवान् के पादपद्मों की भक्ति भी प्राप्त हो जायगी। अब आप बतलाइये मैं आपके सम्मुख कौन-सी कथा कहूँ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् शुकदेवजी के मुख से बात सुनकर महाराज परीक्षित् कथा के प्रसङ्ग को विछिन्न न होने देने के विचार से स्वायम्भुवमनु के दूसरे पुत्र ध्रुव के पिता उत्तानपाद के भाई प्रियव्रत के वंश के सुनने की इच्छा प्रकट करने लगे। महामुनि शुकदेवजी ने जिस प्रकार राजर्षि प्रियव्रत के वंश का वर्णन किया है उसे मैं आप सबको आगे सुनाऊँगा। आप सब दत्तचित्त होकर उन राजर्षि के परम पावन चरित्रों का श्रवण करें।"

सूतजी की ऐसी बात सुनकर जैसे गाढ़ निद्रा से सोता हुआ पुरुष चारों ओर देखता है उसी प्रकार देखते हुए महामुनि शौनकजी बोले सूतजी! आप कैसी अद्भुत कथा कहते हैं? हम तो इस बात को भूल ही गये थे कि महाराज परीक्षित् को श्रीशुकदेवजी कथा सुना रहे हैं। बार-बार मैत्रेय मुनि कहते हैं,

यह सुनते-सुनते हमें विदुर और मैत्रेय दो ही याद रहे। हम समझ रहे थे, विदुर मैत्रेय सम्वाद को स्वयं आप ही सुना रहे हैं। हमारे नेत्रों में तो भगवती भागीरथी के किनारे कनखल में बैठे हुए मैत्रेय और विदुरजी अभी तक प्रत्यक्ष नाच रहे हैं। हाँ, तो विदुरजी हस्तिनापुर चले गये, मैत्रेय मुनि, भगवान् के ध्यान में तन्मय हो गये। यहाँ विदुर मैत्रेय सम्वाद समाप्त हुआ। अब महाराज परीक्षित् ने श्रीशुकदेवजी से क्या प्रश्न किया। इस कथा को आप और सुनावें।"

यह सुनकर अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हुए सूतजी बोले—"मुनियो ! महाराज परीक्षित् ने जो कुछ आगे पूछा और मेरे गुरुदेव भगवान् शुक ने जो कुछ उत्तर दिया उसे अब मैं आप सब को सुनाऊँगा। आप सब मेरे ऊपर कृपा करें कि मैं आपको भली प्रकार सुना सकूँ।"

छप्पय

शुक मुनि बोले—"भूप ! विशद सम्वाद सुनायौ।
मुनि मैत्रेय महान् विदुरजी के प्रति गायौ॥
जो नर जाकूँ पढ़हिँ प्रेमतें सुनहिँ सुनावें।
ते निश्चय परमेश परम पावन पद पावें॥
स्वायम्भुव-सुत ध्रुव पिता, भूप भये उत्तानपद।
वरन्यो तिनको वंश अब, सुनो प्रियव्रत को विशद॥

—०—

महाराज प्रियव्रत के चरित्र का उपोद्घात

[२०७]

प्रियव्रतो भागवत आत्मारामः कथं मुने ।
गृहेऽरमत यन्मूलः कर्मबन्धः पराभवः ॥*

(श्रीभा० ५ स्क० १ अ० १ श्लोक)

छप्पय

कहें परीक्षित्—प्रभो ! परमज्ञानी नृप प्रियव्रत ।
कर्मबन्ध कस फँसे गृही बनि परम भागवत ॥
चरन शरन हरि लई जिननि ते फँसे मोह कस ।
घरमहँ भक्ति न होहि भई शंका मो मन अस ॥
हँसि बोले शुक—भूपवर ! सत्य बात तुमने कही ।
कहूँ कथा सुनु कृष्ण की, जस नृप हरिपद रति लही ॥

अनादि काल से दो मार्ग चले आये हैं, एक प्रवृत्ति मार्ग दूसरा निवृत्ति मार्ग। प्रवृत्ति मार्ग का आचरण करने वाला पुरुष चाहे स्वर्गादि लोकों को भले ही प्राप्त कर ले, किन्तु वह संसार के आवागमन से सदा के लिये मुक्त नहीं हो सकता। उसकी पार्थिव विषयों में या दिव्य विषयों में कुछ-न-कुछ आसक्ति बनी

---

* श्री शुकदेवजी से महाराज परीक्षित पूछते हैं—"हे मुनिवर ! "परम भागवत महाराज प्रियव्रत आत्माराम होने पर भी गृहस्थी में क्यों रमे रहे ? क्योंकि गृहस्थाश्रम में तो मनुष्य अपने स्वरूप को भूलकर कर्म बन्धन में बँध जाता है ।"

ही रहती है, उसी आसक्ति के कारण पुण्य क्षीण होने पर उसे पुनः जन्म धारण करना पड़ता है। जिन्होंने निवृत्ति मार्ग का अवलम्बन ले रखा है, उनका शरीर जब तक है, तब तक वे प्रारब्ध कर्मों को अनासक्त भाव से भोगते हैं। प्रारब्ध क्षीण हो जाने पर उन्हें परमपद की प्राप्ति हो जाती है। वे सत् स्वरूप हो जाते हैं। जो प्रवृत्ति मार्ग को निवृत्ति मार्ग का साधन समझकर वासनाओं को क्षय करने के लिये अन्तःकरण को निर्मल बनाने के निमित्त स्वीकार करते हैं, उनकी सांसरिक वासनायें जहाँ शान्त हुईं वहीं वे सब कुछ छोड़कर श्रीहरि की आराधना में तत्पर हो जाते हैं। ऐसे लोगों को प्रवृत्ति मार्ग बन्धन न होकर निवृत्ति मार्ग का सहायक हो जाता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज स्वायंभुव मनु के पुत्र पुण्य श्लोक महाराज प्रियव्रत बड़े ही धार्मिक भगवद्भक्त तथा अपनी आत्मा में ही रमण करने वाले थे। उन्होंने चिरकाल तक गृहस्थ धर्म का बड़ी कुशलता के साथ पालन किया।"

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! इन परस्पर में विरुद्ध बातों को सुनकर मेरे मन में बड़ी शंका उत्पन्न हो रही है। पहिले तो आप महाराज प्रियव्रत को परम भागवत भगवद्भक्त और आत्माराम बता रहे हैं, फिर कहते हैं—"उन्होंने कुशलता पूर्वक गृहस्थाश्रम का चिरकाल तक पालन किया। भगवन्! मन तो एक ही है। मनुष्य एक ही विषय में पूर्णता से कुशलता कर सकता है। जो सांसारिक विषय वासनाओं और व्यवहारों में कुशल होगा, वह पूर्णरीत्या परमार्थ साधन नहीं कर सकता और जिसका चित्त परमार्थ चिन्तन में लगा हुआ है उससे ये सांसारिक प्रपञ्च न हो सकेंगे। एक साथ दो कार्य कैसे कुशलता के साथ हो सकते हैं। महाराज प्रियव्रत आत्माराम होकर भी गृहस्थाश्रम में कैसे प्रवृत्त हुए? क्योंकि जो असंग हैं, उन्हें गृहस्थीपने का अभि-

मान हो नहीं सकता और इसके बिना गृहस्थ चलता नहीं।"

श्री शुकदेवजी ने पूछा—"क्यों, गृहस्थाश्रम में भी तो साधन हो सकता है। वहाँ भी प्रयत्न करने पर सिद्धि नहीं हो सकती? भाई, कहीं भी रहो, पृथ्वी, जल, प्रकाश, वायु और आकाश ये तो रहेंगे ही। आस-पास चींटी, कीड़े मकोड़े ये जीव भी रहेंगे। गृहस्थाश्रम में ऐसी कौन-सी बात है जो सिद्धि प्राप्त न हो?"

राजा ने कहा—"हाँ, भगवन्! यह सत्य है, जहाँ भी रहेंगे पञ्चभूत वहीं बने रहेंगे, किन्तु स्त्री, पुत्र, घर, धन, धान्य वाहन, भूमि आदि में ऐसी आसक्ति हो जाती है कि फिर चित्त उन्हीं की चिन्ता में फँस जाता है। जहाँ चित्त इसमें आसक्त हो गया, फिर वह पुण्य कीर्ति श्रीहरि के चरणों की शीतल छाया में जाने की इच्छा ही नहीं करता। शांति सुख को अनुभव करने का उसे अवकाश नहीं। इसी प्रकार जिन्होंने भगवद्भक्ति के रस का आस्वादन कर लिया है, फिर उनकी कुटुम्बादि नीरस और दुर्गन्धियुक्त सड़े जल में प्रवृत्ति नहीं होती।"

यह सुनकर हँसते हुए श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन्! आप ठीक कह रहे हैं। वास्तविक बात यही है, कि जिनका चित्त श्रीहरि की रूप माधुरी में आसक्त हो गया है, उनकी स्त्री पुत्रों में की आसक्ति सर्वथा छूट जाती है। किन्तु राजन्! किसी ने एक बार कोई पुण्य पथ देख लिया है, यदि वह फिर जाते-जाते किसी कुमार्ग में भटक जाता है, तो तुरन्त सावधान हो जाता है कि यह मेरा गन्तव्य मार्ग नहीं है। जहाँ उसे चेत हुआ, तहाँ वह उस मार्ग का परित्याग करके राजपथ पर पुनः चलने लगता है। इसी प्रकार जिनका चित्त कमलाकान्त श्रीहरि के चरण कमल के मकरन्द में आसक्त हो जाता है, वे किसी विघ्न के प्राप्त हो जाने पर भी प्रायः भगवान् वासुदेव की भवभयहारी कथा रूप पथ का परित्याग नहीं कर सकते। भगवद् भक्ति कुछ एक

जन्म के सुकृतों का फल तो है नहीं। अनेक जन्मों में परम पुण्य कर्म करते-करते जब समस्त पाप क्षीण हो जाते हैं, तो उन निष्पाप पुरुषों के हृदय में प्रभु कृपा से भक्ति का बीज अंकुरित होता है। वह सहसा नहीं होती। वह तो जन्म से ही होती है। बीच में कोई विघ्न भी पड़ जाय, तो कुछ ही काल में वह विघ्न शान्त हो जाता है।

राजकुमार प्रियव्रत जन्म से ही महान भगवद्भक्त थे। उनकी श्रीहरि के पादपद्मों में स्वाभाविकी अनुरक्ति थी। सौभाग्य से उन्हें भक्ति मार्ग के परमाचार्य भगवान् नारद जैसे सद्गुरु प्राप्त हो गये थे। उनके पादपद्मों की परिचर्या के प्रभाव से सुगमता-पूर्वक परमार्थतत्व का बोध हो गया था। नारदजी के चरणों में उनका दृढ़ अनुराग था। दोनों ही गुरु शिष्य परस्पर में आत्मचिन्तन करते रहते थे। सत्संग की सरिता प्रवाहित होती रहती थी।

महाराज परीक्षित् ने पूछा—"क्यों महाराज! घर पर ही यह ब्रह्म सत्र चलता रहता था। उनके इसप्रकार निरन्तर आत्मचिन्तन में निमग्न रहने से उनके पिता ने तो कुछ बुरा नहीं माना ?"

यह सुनकर शुकदेवजी मन-ही-मन मुस्कराये और बोले "राजन्! पिता की यह हार्दिक इच्छा होती है, कि मेरे पुत्र मेरे ही समान विवाह करके कुल की वंश परम्परा को अविच्छिन्न रखे। इसीलिये जब कोई पिता अपने पुत्र को बाबाजियों के संग बहुत बैठते देखता है, तो उसे चिन्ता होने लगती हैं, कि ऐसा न हो कि यह कहीं बाबाजी बन जाय। वैसे किसी अच्छे त्यागी महात्मा को देखते ही बूढ़े कहने लगते हैं—"इनके माता पिता को धन्य है जिन्होंने ऐसा भगवद्भक्त पुत्र पैदा किया। जिसने अपनी भक्ति से २१ पीढ़ियों को तार दिया!" किन्तु उनसे कोई कहे कि "फिर तुम धन्य क्यों नहीं हो जाते ? अपने बेटे को बाबाजी

बनाकर २१ पीढ़ियों को क्यों नहीं तार लेते ?" तो इतना सुनते ही उनके पेटों में पानी हो जाता है और चाहते हैं, हमारा लड़का इन बाबाजियों से दूर ही रहे तो अच्छा। कहीं इनसे इनकी छूत न लग जाय। इसी का नाम मोह है। हाँ, तो राजन्! जब स्वायम्भुव मनु ने देखा मेरा पुत्र अब युवा हो गया है, पृथ्वी पालन के लिये शास्त्रकारों ने राजा में जितने सद्गुण बताये हैं, वे सब सद्गुण पूर्णतया इसमें विद्यमान हैं, तब उन्होंने एक दिन कहा—"बेटा, देखो! अब तुम बच्चे नहीं हो युवक हो गये। हित अहित सब समझते हो। अब तुम भैया, धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करो। गृहस्थी के भार को सम्हालो, मेरे कन्धों के बोझ को हल्का करो। मेरे कार्यों में हाथ बटाओ। मैं सदा थोड़े ही बैठा रहूँगा। आगे पीछे तुम्हें ही यह सब कार्य सम्हालना होगा।"

पिता की ऐसी मायामोह पूर्ण बातें सुनकर प्रियव्रत को अच्छा नहीं लगा, क्योंकि उन्होंने तो अपनी समस्त इन्द्रियों के क्रिया कलाप को भगवान् वासुदेव के चरणारविन्दों में समर्पित कर रखा था। समाधि योग के द्वारा वे तो परमार्थ पथ के अनुसरण की तैयारियाँ कर रहे थे।

उन्होंने अपने मन में सोचा—"यदि मैं राज काज में लग गया, तब तो मेरा आत्मस्वरूप असत् प्रपञ्च से आच्छादित हो जायगा। फिर मुझे अपने सत् स्वरूप की विस्मृति हो जायगी।" यही सब सोच समझकर उन्होंने अपने पिता की आज्ञा का परिपालन नहीं किया। यद्यपि सत् पुत्र के लिये पिता की आज्ञा का उल्लङ्घन न करना एक अत्यन्त ही अनिवार्य कार्य है, किन्तु वे करते ही क्या, विवश थे ऐसा करने के लिये।

मेरे इतने योग्य पुत्र ने मेरी आज्ञा की अवहेलना की, इस बात से महाराज स्वायंभुव मनु को अत्यन्त दुःख हुआ। वे

सोचने लगे—अब मेरा वंश आगे कैसे बढ़ेगा। सृष्टि का क्रम कैसे चलेगा। यह बाबाजी बन जायगा। तो ब्रह्माजी की बनायी इस सृष्टि की वृद्धि कैसे होगी। इधर तो महाराज मनु को ऐसी चिन्ता हो रही थी, उधर स्वयं लोक पितामह ब्रह्माजी चिन्तित थे, कि हमारे मानसिक पुत्रों में से चारों सनकादि और नारद ये बाबाजी बन गये। अकेले ये ही बनकर रह जाते, तब कोई बात भी नहीं थी, किन्तु मनुष्य का यह सहज स्वभाव होता है, कि जैसा स्वयं होता है, वैसा ही दूसरों को बनाना चाहता है। जो वस्तु अपने को प्रिय है, उसको दूसरों को भी आस्वादन कराना चाहता है। यह नारद घूम-घूमकर लोगों को निवृत्ति मार्ग की ही शिक्षा देता रहता है। यदि सभी निवृत्ति मार्ग के पथिक बन जायँ तो इस 'त्रिगुणमय जगत् की वृद्धि किस प्रकार होगी' यही सब सोचकर उन्होंने अपने पौत्र प्रियव्रत को गृहस्थ धर्म की शिक्षा देने का निश्चय किया। इधर नारदजी उन्हें एकान्त में ले जाकर निवृत्ति मार्ग की पट्टी पढ़ा रहे थे। इस संसार के सभी पदार्थों को असार बता रहे थे। संसार से हटकर प्रभु के पाद पद्म किस प्रकार पकड़े जाते हैं, इस बात का मर्म समझा रहे थे।

अहा! जब एकान्त में दोनों गुरु शिष्य परमार्थ की गहनता से उलझी हुई गुत्थियों को सुलझा रहे हों, उस समय दोनों का चित्त किस प्रकार तन्मय हो जाता है। दोनों ही इस दृश्य जगत् को भूल जाते हैं, एक अनिर्वचनीय आनन्द का प्रादुर्भाव वहाँ हो जाता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इधर तो राजकुमार प्रियव्रत और नारदजी परमार्थ चिन्तन में निमग्न थे, इधर ब्रह्माजी उन्हें गृहस्थी बनाने के निमित्त उपदेश देने की इच्छा से उनके समीप जाने को अपने हंस को ठोक-ठाक कर रहे थे। उनके मारीचादि मानस पुत्रों ने कहा—"भगवन्! हम भी आपके साथ चलेंगे।

ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छी बात है आप लोग भी सब चलो। सब लोग मिल जुलकर उसे समझावेंगे तो उस पर अधिक प्रभाव पड़ेगा।" यह सुनकर मरीचादि मुनि तथा मूर्तिमान वेद भी ब्रह्माजी के साथ हो लिये।"

छप्पय

परम भागवत भये प्रियव्रत ज्ञानी ध्यानी।
गुरु नारद की सीख प्रेम तें तिनने मानी॥
लखि विरक्त सुत पिता राज को काज बतायो।
किन्तु कुमरके नहीं गृहस्थाश्रम मन भायो॥
इत मनु चिन्ता महँ परे, उत चतुरानन चित चढ़ी।
यदि विरक्त प्रियव्रत बनै, तो होवै गड़बड़ बड़ी॥

श्री ब्रह्माजी का प्रियव्रत के समीप आगमन

[३०८]

निबोध तातेदमृतं ब्रवीमि
मासूयितुं देवमर्हस्यप्रमेयम् ।
वयं भवस्ते तत एष महर्षि-
र्वहाम सर्वे विवशा यस्य दिष्टम् ॥ *

(श्री भा० ५ स्क० १ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

चढ़े हंसपै सङ्ग मरीचादिक मुनि धाये ।
सत्य लोकतैं उतरि तपादिक लोकनि आये ॥
विधिकूँ लखि सब अमर सुमन तिनपै बरसावें ।
स्वागत के हित सिद्ध साध्य ऋषि मुनि मिलि आवें ॥
गावत गुन गन्धर्वगन, सुयश संग ऋषि मुनि सुनत ।
लखि विधि नारद कुमर मनु, उठे सबहिँ संभ्रम सहित ॥

महा पुरुषों का पधारना एक प्रकार का महोत्सव माना जाता है। जो प्रतिष्ठा वय में, प्रभाव में, तप में, कीर्ति में, पदप्रतिष्ठा

---

* ब्रह्माजी राजकुमार प्रियव्रत को समझाते हुए कहते हैं—"देखो, बेटा तुम इस बात को निश्चय समझो, कि मैं जो कुछ तुमसे कहूँगा सत्य ही सत्य कहूँगा, तुम्हें अप्रेय भगवान् श्रीहरि की आज्ञा

में श्रेष्ठ हैं उनके आगमन से एक प्रकार का आनन्द होता है। उनके दर्शनों की चित्त में स्वाभाविक उत्कण्ठा होती है, उनके स्वागत सत्कार में एक प्रकार का अभिनव उल्लास उत्पन्न होता है तथा उनके आगमन में यथाशक्ति यथा सामर्थ्य श्रद्धाञ्जलि समर्पित करने की लालसा बलवती हो उठती है। कुछ स्वागत सत्कार अनिच्छापूर्वक विवश बनाकर बल-पूर्वक भी कराया जाता है। उसमें कुछ आनन्द नहीं आता। वह तो एक प्रकार अन्याय है, जो निर्बल होने के कारण विवश होकर करना पड़ता है। स्वागत तो वही है जिसमें स्वाभाविक प्रवृत्ति हो, रोम-रोम प्रफुल्लित हो उठें।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! लोकपितामह ब्रह्माजी जब राजकुमार प्रियव्रत को समझाने अपने सत्यलोक से भूमि पर नीचे की ओर उतरने लगे तो उनके चारों ओर मरीचि आदि मुनिवर घिर कर चलने। चारों वेद मूर्तिमान होकर उनका अनुसरण करने लगे। नीचे सब लोकों में यह बात फैल गयी आज लोक पितामह की सवारी इस मार्ग से जायगी, इस सम्वाद को सुनते ही सभी लोकों में निश्चित मार्ग के दोनों ओर उन लोकों के देवगण पितामह के स्वागत के लिये समुपस्थित हो गये। सभी के हाथों में दिव्य पत्र, पुष्प, फल तथा अन्य सत्कार की विविध सामग्रियाँ थीं, सभी पितामह के सुस्वागत के लिये लालायित थे। जिस लोक से वे निकलते वहाँ के पुरुष उनकी विविध भाँति से पूजा करते दिव्य पुष्पों की वर्षा करके अपना हर्ष प्रकट करते। भगवान् चतुरानन के आगे-आगे

की अवहेलना न करनी चाहिये। क्योंकि उन्हीं की आज्ञा का महादेवजी, तुम्हारे पिता मनुजी नारदजी ये सब महर्षि तथा हम सभी विवश होकर पालन करते हैं।"

झुण्ड के झुण्ड सिद्ध साध्य, गन्धर्व चारण तथा मुनि गण इनके सुयश का गान कर रहे थे। अप्सरायें नृत्य करती जाती थीं, उपदेव विविध भाँति के वाद्यों को बजाते जाते थे। शङ्ख के समान श्वेत हंस पर विराजमान ब्रह्माजी ऋषि-मुनि तथा गन्धर्वादिकों से घिरे ऐसे ही प्रतीत होते थे। मानों ग्रहों से घिरे शरद कालीन चन्द्रमा आकाश में अपनी ज्योत्स्ना को छिटकाते हुए हँस रहे हों।

महाराज स्वायम्भुव मनु चिन्ता में बैठे थे उनके समीप ही राजकुमार प्रियव्रत दत्तचित्त होकर नारदजी के परमार्थिक उपदेशों को श्रवण कर रहे थे। सहसा सभी ने देखा गन्धमादन पर्वत की कन्दरायें अपने आप आलोकित हो उठीं। उल्कापात के समय जिस प्रकार सहसा प्रकाश हो जाता है, उसी प्रकार का प्रकाश गगन मण्डल में दिखाई दिया। सभी आश्चर्य चकित होकर उस दृश्य को देखने लगे। कुछ क्षणों में ही सबको भगवान चतुरानन के वाहन हंस के हिलते हुए पंख दिखायी दिये-हंस को देखते ही सभी समझ गये, कि भगवान् लोकपितामह ब्रह्मदेव पधार रहे हैं। स्वायम्भुव मनु तथा नारदजी अपने पिता को उतरते हुए देखकर सहसा संभ्रम के साथ खड़े हो गये। कुमार प्रियव्रत भी सत्कार के निमित्त सबके साथ खड़े हुए। सभी ने समीप आते हुए ब्रह्माजी के पादपद्मों में प्रणाम किया। उनके साथ आये हुए ऋषियों ने भी परस्पर में कुशल प्रश्न किया। प्रणाम नमस्कार के अनन्तर नारदजी ने विविध सामग्रियों से लोकपितामह ब्रह्म की विधिवत पूजा की। फिर उनकी विविध वैदिक स्तोत्रों से स्तुति पूजा की, उनके अवतार की उत्कृष्टता का वर्णन करके पुनः उनके चरण कमलों में प्रणाम किया, नारदजी और स्वायम्भुवमनु की पूजा को स्वीकार करके ब्रह्माजी प्रसन्न हुए फिर हँसते हुए कुमार प्रियव्रत की ओर दया दृष्टि निहारते हुए कहने लगे—"बेटा! क्या कर रहे थे तुम ?"

हाथ जोड़े हुए लज्जा से सिर झुकाकर सकुचाते हुए कुमार प्रियव्रत बोले—"भगवन् ! मैं गुरुदेव नारदजी का उपदेश श्रवण कर रहा था।"

हँसकर ब्रह्माजी ने अपनी सफेद दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा—"अच्छा, नारदजी की तो तुमने बहुत बाते सुनी कुछ हमारी भी बात सुनेगे ?"

लजाते हुए कुमार बोले—"भगवन् ! आप कैसी बात कर रहे हैं। आप जो भी आज्ञा देंगे, उसे मैं सिर से श्रद्धापूर्वक स्वीकार करूँगा।"

ब्रह्माजी ने कहा—"मेरी बातें कुछ नारदजी की बातों से प्रतिकूल-सी तुम्हें दिखायी देंगी। तुम यह तो न समझोगे कि ये ब्रह्माजी हमें उलटी पट्टी पढ़ाकर फँसाना चाहते हैं, हमें बहकाकर दूसरे मार्ग को ले जाना चाहते हैं।"

सिर नीचा किये हुए ही राजकुमार ने कहा—"नहीं, भगवन् ! यह कैसे हो सकता है। आप तो जो भी कुछ कहेंगे मेरे कल्याण के ही निमित्त कहेंगे। आपका दिया हुआ उपदेश मङ्गलकारी ही होगा।"

ब्रह्माजी ने कहा—"देखो भैया मैं तुमसे अपनी ओर से कुछ भी नहीं कहता ! मैं तो तुम्हें वही उपदेश दूँगा जिसे भगवान् ने मुझसे कहा है। मैं तो केवल उन भगवान् के सन्देश का वाहक मात्र हूँ, जिनकी आज्ञा से शिवजी, मनु, इन्द्र समस्त प्रजापति तथा हम सभी लोग विवश होकर कार्य कर रहे हैं।"

प्रियव्रतजी ने कहा—"हाँ भगवन् ! यही बात तो भगवान् नारदजी बता रहे थे, कि उन सर्वान्तर्यामी प्रभु की प्राप्ति ही जीव का चरम साध्य है। उन्हें प्राप्त करना ही परम पुरुषार्थ है।"

ब्रह्माजी ने कहा—"भैया, यही बात तो मैं तुमसे कहने आया हूँ, कि तुम अपने संकल्प को भगवान् के संकल्प में मिला दो।

अपनी इच्छा का उनकी इच्छा में समावेश कर दो। वे जो करें उसी में अपना कल्याण समझो। कोई भी देहधारी यह सोचे, कि हम भगवान् के विधान को उग्र तपस्या से, विद्या के द्वारा, योग-बल से, बुद्धि बल अथवा धर्म आदि से स्वयं अथवा दूसरों के द्वारा टाल दें तो वे कभी भी टालने में समर्थ नहीं हो सकते।"

इस पर राजकुमार प्रियव्रत ने पूछा—"तब भगवन्! पुरुषार्थ क्या रहा ?"

ब्रह्माजी ने कहा—"भैया! पुरुषार्थ तो दैव संयोग द्वारा ही होता है। जो होना होता है वैसे ही सब साधन जुट जाते हैं। वैसे ही विधान बन जाते हैं। पूर्व-जन्म कृत कर्मों के अनुसार ही प्रारब्धवश वैसे ही कुल में जन्म होता है। जब प्रारब्ध कर्मों का जिस स्थान पर जब अन्त होने को होता है। तब उसी स्थान पर उसी काल में मृत्यु हो जाती है। जहाँ जिसके द्वारा जिस कार्य से शोक मोह भय होने को होता है। वहाँ उसके द्वारा उस कार्य में अवश्य ही शोक मोह तथा भय होगा। जीव का देह के साथ जितने दिन दैववंश सुख-दुःख भोगने का संयोग बदा होगा उतने दिन वह अवश्य भोगना होगा।"

कुमार प्रियव्रत ने कहा—"तब तो भगवन्! यह बड़ी विवशता की बात हुई। किसी को कोई कार्य प्रिय न हो, वह उसे न करना चाहे तो ?"

सरलता के साथ ब्रह्माजी बोले—"भैया! न कैसे करना चाहे ? सब करने के लिये विवश हैं। जैसे नाक में नकेल डाल-कर मालिक ऊँट को जिधर चाहे उधर ले जाता है, जैसे बैलों के नथुनों में नाथ डालकर उनका स्वामी उनसे जो चाहता है कराता है, वैसे ही हम सब भी वेद रूप रस्सी में सत्व, रज और तम रूप गुण तथा त्रिविध कर्म रूप दुस्तर बन्धनों में कसकर बँधे हुए

हैं। उनकी इच्छा के विरुद्ध तिल भर भी इधर-इधर नहीं जा सकते।"

प्रियव्रत ने कहा—"प्रभो! व्याकरणादि शास्त्रों में तो कर्ता को स्वतन्त्र बताया है। शास्त्रों में बार-बार कहा गया है, मनुष्य योनि से ही यदि चाहे, तो मुक्ति लाभ कर सकते हैं। आपके कथनानुसार तो जीव अवश है, उसे इच्छा न रहने पर भी विवश बनकर गुण कर्मों के अधीन होकर नाना योनियों में जाना पड़ता है।"

ब्रह्माजी ने कहा—"देखो, भैया! जहाँ कर्ता को स्वतंत्र बताया है, वहाँ जीव कर्ता नहीं है। वे श्रीहरि ही कर्ता-हर्ता भोक्ता और रक्षक माने गये हैं। मनुष्य योनि मोक्ष का द्वार है, यह ठीक है, किन्तु सभी मनुष्य तो भक्त नहीं हो जाते। जो भगवत् कृपा के अधिकारी बन चुके हैं, उन्हीं का कर्मबन्धन छूटता है, वे ही चौरासी के चक्कर से मुक्त होते हैं। तुम कहोगे तब तो भगवान् पक्षपात करते हैं, कुछ जीवों पर कृपा करते हैं उन्हें जन्म-मरण से छुड़ा देते हैं, कुछ को चौरासी के चक्कर में घुमाते रहते हैं। तब तो भगवान् में नैर्घृण्य दोष आ जायगा। सो बात भी नहीं उनकी कृपा तो सभी पर समान रूप से होती रहती है, उसका अनुभव वे ही कहते हैं, जिनके त्रिविध कर्म रूप बन्धन ढीले हो गये हैं। एक दिन सभी को त्रिगुणातीत होना ही है देर सबेर हो जाय उसकी दूसरी बात है। अब तुम कहोगे, कि भगवान् सब को एक साथ ही मुक्त क्यों नहीं कर देते। सो, भैया ऐसा हो तो यह सृष्टिक्रम कैसे चले, यह भगवत् क्रीड़ा कैसे बने। वास्तव में न बन्धन है न मोक्ष। उन्हीं का सब पसारा है बाजीगर का खेल है। उनकी शरण में जाने पर कहीं कुछ नहीं। जब तक जमूड़े बने रहोगे तब तक बाजीगर की इच्छा के अनुसार कार्य करते रहोगे। जो कहलावेगा कहना पड़ेगा। वह उठावेगा उठना

पड़ेगा, वह बैठावेगा बैठना पड़ेगा। जैसे नेत्रवाला पुरुष अन्धे आदमी को पकड़कर जिधर ले जाना चाहता है, ले जाता है, उसी प्रकार हमारे गुण और कर्मों के अनुसार श्रीहरि ने हमें जिस-जिस योनि में नियुक्त कर दिया है, उन-उन योनियों को स्वीकार करके हम ईश्वर द्वारा नियत किये हुए सुख-दुःखों को भोगते हैं। सब कुछ उन्हीं की इच्छा से हो रहा है। इसलिये मनुष्य का प्रधान कर्तव्य यही है, कि जिन्होंने भगवत् कृपा का साक्षात्कार किया है, उनके अनुग्रह की उपलब्धि की है, उनकी बात मानकर उनकी शिक्षा के अनुसार कार्य करने चाहिये।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! ब्रह्माजी की ऐसी बातें सुनकर राजकुमार प्रियव्रत कुछ समय के लिये गहरी चिन्ता-सी में फँस गये। वे किसी गहन विषय को सोचने लगे।"

छप्पय

स्वागत श्रद्धा सहित सबनि करि पद सिर नाये।
विधिवत पूजा करी दिव्य आसन बैठाये॥
प्रेम सहित मुसकाय कहें ब्रह्मा—सुनु प्रियव्रत।
देहुँ सार उपदेश होहि जातें जग को हित॥
जीव बँधे गुण कर्म तें, करें कर्म ह्वैकें अवश।
जनम मरण भय शोक दुख, सुख पावें प्रारब्ध वश॥

श्रीब्रह्माजी की आज्ञा से श्रीप्रियव्रत का गृहस्थाश्रम-प्रवेश

[३०६]

भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्याद्
यतः स आस्ते सहषट्सपत्नः ।
जितेन्द्रियस्यात्मरतेर्बुधस्य
गृहाश्रमः किं नु करोत्यवद्यम् ॥*
(श्री भा० ५ स्क० १ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

विषय भोग कछु नाहिं बन्ध को कारन मन है ।
इन्द्रिय मन आधीन यन्त्र के सम यह तन है ॥
जाको मन आधीन ताहि बन काज कहा है ।
इन्द्रिय वश जे भये तिनहि बन हानि महा है ॥
प्रभुपद पंकज कर्णिका, किलौ ताहि दृढ़ मानिकें
भोगो सुख अरि काम हनि, प्रभु प्रसाद जिय जानिकें ॥

---

* श्री ब्रह्माजी राजकुमार प्रियव्रत को समझाते हुए कहते हैं—"देख, बेटा ! जिस पुरुष ने इन्द्रियों को नहीं जीता है, वह यदि वन में भी चला जाय तो वहाँ भी उसे भय होता है। क्योंकि उसके ६ शत्रु सदा साथ रहते हैं। इसके विपरीत जो पुरुष जितेन्द्रिय हैं, बुद्धिमान हैं अपनी आत्मा में ही रमण करने वाला है वह यदि घर में ही रहे, तो उसका गृहस्थाश्रम क्या बिगाड़ सकता है ?"

साधना की सुविधा के लिये देश आश्रम वर्ण आदि का विचार किया जाता है। वास्तविक बात यह है कि बाह्य वस्तुओं में बन्धन नहीं। कोई वस्तु हमें नहीं बाँध सकती। मन से ही बंधन है, मन से ही मुक्ति है। मन ने जिसे सुख मान लिया वह सुख है, जिसे दुःख मान लिया वह दुःख है। जीव प्रारब्ध कर्मों के अधीन होकर कर्म करता है, उन कर्मों में जिस प्रकार की आसक्ति हो जाती है, उसी प्रकार के सुख दुःखों का अनुभव मन करने लगता है। कर्म ३ प्रकार के हैं, जन्म जन्मांतरों के किये हुए अनंत कर्मों के समूह को संचित कर्म कहते हैं। उन संचित कर्मों में से एक जन्म के भोग निकलकर जो शरीर मिलता है उन एक जन्म का भोगने योग्य कर्मों का नाम प्रारब्ध कर्म है। प्रारब्ध कर्मों का भोग-भोगते समय जो उनमें असक्ति हो जाती है, उनसे जो कर्म बनते हैं उन्हें क्रियमाण कर्म कहते हैं, वे जाकर संचित कर्मों में जमा होते रहते हैं। जैसे किसी के पास लाख रुपये हैं, वह तो उसका मूलधन है। उसमें से जीवन निर्वाह को जो मिल जाय वह प्रारब्ध कर्म है। अब मूलधन से व्याज बढ़ती जायगी, जब तक मूलधन है निरन्तर व्याज बढ़ेगी। जिस पर हमारा मूलधन जमा है, उसका दिवाला निकल जाय तो मूलधन भी नष्ट हो जायगा। व्याज आनी भी बन्द हो जायगी, किन्तु जो धन हमारे हाथ में आ गया है, वह तब तक समाप्त न होगा, जब तक हम उस सबका व्यय न कर दें। इसी प्रकार जब तक संचित कर्म हैं, तब तक निरंतर वे बढ़ते रहेंगे जन्म-मरण-का चक्कर लगा रहेगा। संचित कर्म ज्ञान से या भगवद्-भक्ति से नष्ट हो जाय, तो फिर क्रियमाण कर्म भी न बनेंगे। जितना प्रारब्ध है, उसे भोगकर जन्म मरण के बन्धन से छूट जायँगे, परम पद को प्राप्त हो जायँगे।

श्री शुकदेवजी कहते है—"राजन्! जब ब्रह्माजी ने गुण

प्रवाह रूप कर्मों पर अत्यधिक बल दिया और प्रारब्ध को ही प्रधानता दी। तब बहुत कुछ सोचकर राजकुमार प्रियव्रत पूछने लगे—"भगवन्! जब प्रारब्ध को आप इतना दुर्निवार बताते हैं तब तो सभी प्राणी प्रारब्ध के अधीन हुए। हमने तो सुना है जो जीवन मुक्त पुरुष हैं, उन्हें कोई कर्म बन्धन रहता ही नहीं। वे संसार में स्वच्छन्द होकर विचरते हैं, उन्हे न दुःख का अनुभव होता है न सुख का। उन्हें न दुष्कर्म दुःख दे सकता है न सत्कर्म सुख। वे तो द्वंद्वातीत होकर बालवत् विचरते हैं।"

ब्रह्माजी ने कहा—"हाँ, भैया! यह बात ठीक है, जीवन्मुक्त पुरुष के लिये कर्मबन्धन नहीं रहता। वह सुख दुख से सर्वदा परे हो जाता है। उसके सभी संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं। उसके क्रियमाण कर्म आगे के लिये बनते नहीं। इतना सब होने पर भी प्रारब्ध कर्मों का भोग तो जीवन्मुक्त पुरुषों को भी भोगना पड़ता है। यह सत्य है उनके कर्मों के द्वारा उन्हें दुख सुख का अनुभव नहीं होता, फिर भी प्रारब्ध कर्म तो भोगने पर ही समाप्त होंगे। जो बाण धनुष से छूट गया वह तो जब तक उसका वेग समाप्त होकर गिर न जाय तब तक चलता ही रहेगा। प्रारब्धानुसार कर्म तो यन्त्र की भाँति होते रहते हैं, किन्तु उससे आगे के लिये क्रियमाण कर्म नहीं बनते। जैसे भुने हुए चने का अस्तित्व तो बना रहता है, किन्तु अंकुर उत्पन्न करने में असमर्थ होता है। जीवन्मुक्त पुरुष कर्मों के सुख दुख में समान रहता है जैसे किसी पुरुष ने स्वप्न में अधौटा दूध की बनी अत्यन्त सुगन्धित खीर खायी और फिर उसके किसी ने लाठी मार दी सिर फट गया। जागने पर न वहाँ खीर का कटोरा है, न लाठी मारने से सिर फटा है। जिस प्रकार जागने पर वह दोनों बातोंको स्मरण करके केवल हँस देता है न खीर का उसे सुख होता है न लाठी का दुख दोनों को मिथ्या समझता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी जब तक

प्रारब्ध शेष रहता है, तब तक उसे भोगने के लिये देह को धारण किये रहता है, किन्तु उसमें निजत्व का अभिमान नहीं करता और न अन्य देह की प्राप्ति करने वाले संस्कारों को ही अपने में स्वीकार करता है।"

यह सुनकर राजकुमार प्रियव्रत ने कहा—"तब भगवन्! सबसे श्रेष्ठ तो यही है, इन सब झंझटों को छोड़कर शान्त चित्त से एकान्त में जाकर सर्वेश्वर श्रीहरि का भजन करना चाहिये। इस गृहस्थ रूप जल में न फँसना चाहिये। इसमें नाना प्रकार के क्लेश हैं, विविध भाँति के बन्धन हैं।"

यह सुनकर ब्रह्माजी हँसे और बोले—"अरे भैया! वन में कुछ जादू तो रखा ही नहीं, कि जाते ही चित्त शान्त हो गया। कभी-कभी तो देखा गया है, एकान्त में काम वासनायें अत्यन्त प्रबल हो जाती हैं। मेरे प्यारे बच्चे! किसी स्थान में कुछ नहीं रखा है। यदि अपना मन अपने वश में है, इन्द्रियों के ऊपर विजय प्राप्त कर ली है तो फिर चाहे बन में रहो या घर में दोनों ही स्थान एक-से हैं दोनों में ही आनन्द है। यदि मन चञ्चल है इन्द्रियाँ अपने अधीन नहीं तब आप लाख वन में चले जाओ वहाँ भी फँस जाओगे। क्योंकि विघ्न करने वाले काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर ये ६ शत्रु तो सदा पुरुषों के साथ ही साथ रहते हैं। कहीं भी चले जाओ ये पिंड नहीं छोड़ते। जहाँ इन काम क्रोधादिकों पर विजय प्राप्त कर ली, फिर क्या है कहीं रहो आनन्द ही आनन्द है।"

कुमार प्रियव्रत ने कहा—"महाराज! यह बात तो आपकी ठीक ही है, कि जब तक मनुष्य जितेन्द्रिय नहीं होता, काम क्रोधादि शत्रुओं को नहीं जीत लेता, तब तक उसका एकान्त वास जप, तप, पूजा, पाठ वेदाध्यन सब व्यर्थ है, किन्तु फिर भी इन शत्रुओं को जीतने का सुगम उपाय यही है, कि जिस गृहस्थाश्रम

में चारों ओर से काम क्रोधादि के ही साधन भरे हैं, उसे छोड़कर एकान्त में साधन द्वारा इन शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके जीवनमुक्ति के सुख का आस्वादन करे। ये शत्रु भी तो घर में रहकर नहीं जीते जाते। इन्हें जीतने के लिये भी तो घर का छोड़ना अत्यावश्यक है।"

ब्रह्माजी ने कहा—"हाँ भैया! यह बात ठीक है, गृहस्थाश्रम को छोड़कर ही षडरिपुओं पर विजय प्राप्त की जा सकती है, किन्तु भैया! यह मैदान की लड़ाई है। यह अत्यन्त साहस का का काम है। लड़ाई दो प्रकार होती है एक मैदान की लड़ाई एक किले की लड़ाई। यदि शत्रु निर्बल हो अपने सबल हों तो शत्रु के सामने मैदान में भी लड़ाई कर सकते हैं, किन्तु सबल होने पर भी मैदान की लड़ाई में सन्देह बना ही रहता है किन्तु किले की लड़ाई में सदा सुरक्षा रहती है। किले के भीतर लड़ने से यदि अपना शत्रु सबल भी हो तो भी कोई सन्देह नहीं रहता, शत्रु नीचे है। चारों ओर से खुला है। अपने किले भीतर हैं सुरक्षित हैं ऊपर से बाण छोड़ते हैं नीचे शत्रुओं के सैनिकों का सरलता से संहार कर सकते हैं। वे पहिले तो नीचे से उतने ऊँचे बाण छोड़ ही नहीं सकते छोड़ते भी हैं तो किले के भीतर छिपे रहने से वे अपने लोगों के लगते नहीं। ऐसे युद्ध में पराजय की संभावना ही नहीं रहती। यदि किले बन्धी दृढ़ हो और जीवनयापन की सामग्रियाँ यथेष्ट संग्रहीत हों तो इसी प्रकार गृहस्थ में रहकर साधन करना किले की लड़ाई है गृहस्थ में रहकर काम पर विजय करने का साधन करते रहे, कभी भूल से फिसल भी गये तो धर्म पत्नी में काम तृप्ति करना उतना पाप नहीं। यदि त्यागी अपने को न रोक सका विचलित हो गया, तब तो उसका सर्वनाश ही है, महान पतन ही है। फिर उसका सम्हालना अत्यन्त कठिन है। उसे रौरवादि अनेकों नरकों की यातना भोगनी ही

पड़ेगी। उसी प्रकार क्रोध आया, अपने बाल बच्चों पर उसका आवेग उतार लिया। लोभ, मद, मत्सर इन सबका संयम गृहस्थ में ही रहकर भली भाँति हो सकता है। यह सरल सुगम मार्ग है। मन की वासनायें शान्त हो जायँ, चित्त चञ्चलता को छोड़ दे। जब समझे मन अब बहुत उछल कूद नहीं करता, तब चाहे घर को छोड़कर एकान्त में भजन करे। यह भैया राजपथ है। आँख मींचकर चले जाओ कोई भय नहीं, कोई चिन्ता नहीं।"

प्रियव्रत कुमार ने आत्मग्लानि के स्वर में कहा—"भगवन्! मेरा चित्त तो बड़ा ही चञ्चल है। आप मुझे गृहस्थी में फँसने को कहते हैं। आप गुरु के भी गुरु और पूजनीय पिता के भी पूज्य हैं। आपकी आज्ञा टाल तो नहीं सकता, किन्तु गृहस्थ में फँसकर मैं अपने विवेक को और भी खोदूँगा। उन्हीं विषय सुखों में फँस जाऊँगा।"

ब्रह्माजी ने अत्यन्त स्नेह के स्वर में कहा—"अरे, भैया! तुम कैसी बातें कर रहे हो। तुम कामादि शत्रुओं के अधीन कैसे हो सकते हो, तुमने तो परमाराध्य प्रभु के पादपद्म रूप कर्णिका को कमनीय किला मानकर उसी का आश्रय लेकर काम क्रोधादि शत्रुओं को पहले से ही जीत लिया है। इसलिये तुम्हारे लिये क्या बन्ध मोक्ष? तुम तो भगवान् के कृपा पात्र हो। सृष्टि बढ़ाने के लिये तुम्हारा धराधाम पर जन्म हुआ है। तुम निःसंग भाव से अनासक्त होकर संसारी भोगों को भोगो। विवाह करो, बच्चे पैदा करो सृष्टि बढ़ाओ। यह नारद तो है बाबाजी! राड़ के पाइँ सुहागिनी लागी, ह्वै जा मैंना मो-सी।" एक विधवा स्त्री के पैर किसी सधवा स्त्री ने पकड़े। विधवा ने आशीर्वाद दिया—"अच्छा बहिन तू मेरी जैसी हो जा।" यही दशा इन नारदजी की है। सबको मूँड़कर बाबाजी बनाना चाहते हैं। भैया, इस रूखे बाबा-

जीवन में क्या रखा है। ब्याह हो जाय, बाल बच्चे हो जायँ, फिर तुम्हारी ऐसी ही इच्छा हो तो एकान्त में जाकर माला खट-खटाना अभी से यह बात ठीक नहीं। फिर हम तुम्हारे बाप के बाप हैं। हमारी आज्ञा नहीं मानोगे ?"

यह सुनकर राजकुमार प्रियव्रत मन ही मन हँसे। अब वे क्या कहते। बाबाजी सम्पूर्ण ब्रह्मांड के स्वामी हैं, पूजनीय पितामह हैं। उनकी आज्ञा उलङ्घन नहीं की जा सकती। उनको उत्तर देना भी धृष्टता है। अतः महाभागवत प्रियव्रत ने अपने को छोटा समझकर और यह सोचकर, कि बड़ों की आज्ञा तो माननी ही चाहिये, इसलिके लज्जा से नम्रता पूर्वक ग्रीवा को झुकाकर अत्यन्त ही संकोच के साथ धीरे से कहा—"अच्छा महाराज ! जैसी आपकी आज्ञा ?" इतना सुनते ही ब्रह्माजी का रोम-रोम खिल उठा। स्वायंभुव मनु की प्रसन्नता का तो कहना ही क्या उन्होंने सोचा—"चलो, यह अच्छा हुआ। न साँप मरा न लाठी टूटी" काम बन गया। मुझे कहना भी न पड़ा लड़का ब्रह्माजी के समझाने से ही ठौर ठिकाने पर आ गया।" यह सोचकर शीघ्रता से उन्होंने लोक पितामह की विधिवत पूजा की। मनु की पूजा को स्वीकार करते हुए ब्रह्माजी ने हँसकर नारदजी से पूछा—"कहो, भक्तराज ! आप अप्रसन्न तो नहीं हुए कि हमारे चेले को उलटी पट्टी पढ़ाकर ब्रह्माजी ने बहका दिया।"

नारदजी ने हँसते-हँसते कहा—"अब महाराज ! क्या बतावें बड़े लोगों की बड़ी बातें होती हैं। हम छोटे लोग ऐसा करते तो सभी कहते 'देखो' इन्होंने अन्याय किया दूसरे के चेले को बहका दिया, किन्तु महाराज बड़ों से कौन कहे। अच्छी बात है हमारा चेला न सही भाई ही सही।"

यह सुनकर ब्रह्माजी हँस पड़े और बोले—"अरे, नहीं भैया ! चेला तो तुम्हारा ही है और आगे भी तुम्हारा ही रहेगा। इसके

द्वारा हमें सृष्टि का बहुत कार्य कराना है। इसी के द्वारा द्वीप, समुद्र देश आदि की रचना होने वाली है। साधारण पुरुषों का यह कार्य नहीं। ऐसे त्यागी विरागी ही महान् कार्य कर सकते हैं। जब ये सब काम हो जायँगे, तो यह तुम्हारे ही पथ का अनुसरण करेगा।',

नारदजी ने हँसकर कहा—"नहीं, भगवन्! ऐसी कोई बात नहीं। आपको तो निवृत्ति प्रवृत्ति दोनों का ही ध्यान रखना है।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार कुमार प्रियव्रत को उपदेश देकर ब्रह्माजी मन और वाणी के जो विषय नहीं है ऐसे अवाङ्ग मनस, गोचर, व्यवहार शून्य, अपने आश्रय, निर्गुण, निराकार, विशुद्ध ब्रह्म का चिन्तन करते हुए अपने सर्व श्रेष्ठ धाम ब्रह्मलोक को चले गये।"

ब्रह्माजी के चले जाने पर हँसते हुए नारदजी ने स्वायंभुव-मनु से कहा—"राजन्! हमारा वार खाली नहीं जाना चाहिये। पुत्र नहीं तो पिता ही सही। अब आपकी वृद्धावस्था है। प्रियव्रत सर्वसमर्थ है, वह राज्य पाट सभी को सम्हालने की योग्यता रखता है, आप अपना समस्त भार इसे सौंपकर एकान्त में जाकर श्रीहरि की अराधना में निमग्न हो जायँ। अब इस सम्पूर्ण भू-मंडल की रक्षा का भार सौंप दें।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए मनुजी ने कहा—"नारदजी! यह आपने बात कही है, एक लाख रुपके की। मेरा समय है तपोवन में जाने का। हाँ, यह सब राजकाज सम्हाले, मैं अभी आप से दीक्षा लेकर जाता हूँ।" इतना कहकर महाराज ने तुरन्त मन्त्री पुरोहित और प्रजा के लोगों को बुलाकर प्रियव्रत को राजसिंहा-सन पर बैठाकर स्वयं अत्यन्त विष के सदृश विषयों के भोग से उपरत होकर तपोवन को चले गये।"

यद्यपि महाराज प्रियव्रत को ये विषय सुख प्रिय नहीं थे।

क्योंकि उनके अन्तःकरण की समस्त विषयवासनायें आदि पुरुष श्रीमन्नारायण के युगल चरण कमल रूप मकरन्द के अनवरत पान करने में क्षीण हो चुकी थीं। सम्पूर्ण संसार के जन्म मरण रूप बन्धन को काटने में अत्यन्त समर्थ उन आदि पुरुष अखिलेश के अथक ध्यान के कारण उनका अन्तःकरण विशुद्ध बन गया था। फिर भी गुरुओं की आज्ञा शिरोधार्य करके वे समस्त पृथ्वी का धर्म पूर्वक शासन करने लगे।

कुछ काल के अनन्तर उन्होंने विश्वकर्मा नामक प्रजापति की परम सुशीला सुन्दरी पुत्री के साथ विधिवत् वैदिक विवाह किया। इतनी सुन्दरी सर्वगुण सम्पन्ना बहू को पाकर महाराज प्रियव्रत पुरानी बातों को प्रायः भूल से ही गये। उनके प्रेम में इतने मग्न हुए कि उन्हें यह भी पता नहीं रहा, कि कब दिन होता है, कब रात्रि आती है। वे गृहस्थाश्रम में उलझ गये।

छप्पय

आयसु विधि की मानि प्रियव्रत सिरतें धारी।
सोचें ननु अब सहज कामना पुरी हमारी॥
यों सब विधि समुझाइ ब्रह्म निज लोक सिधारे।
इत प्रियव्रत ने राजकाज सब आइ सम्हारे॥
ब्याह करचो रानी मिलीं, प्रतिप्राणा बर्हिष्मती।
परम सुशीला सुन्दरी, विनयवती अति गुणवती॥

———

महाराज प्रियव्रत का प्रभाव

[३१०]

नैवंविधः पुरुषकार उरुक्रमस्य
पुंसां तदङ्घ्रिरजसा जितषड्गुणानाम् ।
चित्रं विदूरविगतः सकृदाददीत
यन्नामधेयमधुना स जहाति बन्धम् ॥*

(श्रीभा० ५ स्क० १ अ० ३५ श्लोक)

छप्पय

भये पुत्र दस विश्वविदित धार्मिक ज्ञानी अति ।
तिनमें त्यागी तीनि सत द्वीपनि के भूपति ॥
उत्तम तामस पुत्र दूसरी रानी जाये ।
तीसर रैवत भये सबनि पुनि मनुपद पाये ॥
तनया इक उर्जस्वती, शुक्र संग व्याही गईं ।
तासु गर्भतें गरविनी, सुता देवयानी भईं ॥

---

* महामुनि शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जिन लोगों ने प्रभु पादपद्मों की पराग के प्रभाव से शरीर के ६ धर्मों—क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्यु को जीत लिया है उन भगवद्भक्तों का इस प्रकार का पुरुषार्थ कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कारण कि भगवान् के नाम में ही ऐसा प्रभाव है, कि उसके एक बार उच्चारण करने से ही मनुष्य तत्काल संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है। फिर चाहे वह जाति का चांडाल ही क्यों न हो।"

विषयों में आसक्त हुए ज्ञानी और अज्ञानी दोनों एक से ही दिखायी देते हैं। किन्तु ज्ञानी का विवेक लुप्त नहीं होता, वह सांसारिक कार्यों में फँसा रहने पर भी उनसे निर्लिप्त बना रहता है। दूसरे लोग समझते हैं, कि यह अपने विवेक को खोकर विषयों को ही सब कुछ समझता है, यह भी जैसे अन्य विषयी लोग स्त्रियों के क्रीड़ा-मृग बने रहते हैं वैसे ही बना हुआ है, किन्तु उनके विवेक का पता तब चलता है जब वे अत्यन्त प्रिय समझे जाने वाले पदार्थों को तृण के समान त्यागकर चले जाते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! ब्रह्माजी की आज्ञा शिरोधार्य करके महाराज प्रियव्रत ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। उनकी प्राणप्रिया महारानी बर्हिष्मती बड़ी सावधानी के साथ तन मन से पति की सेवा करने लगीं। उन्होंने अपनी सेवा और विनय के द्वारा महाराज को ऐसा वश में कर लिया, कि महाराज उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करने लगे। जब वे नारी सुलभ संकोचमयी मधुर मुस्कान के द्वारा उनकी ओर देखतीं जब वे लज्जा से अवनत मुखारविन्द से अनुराग के सहित कनखियों से उन्हें निहारतीं, तब महाराज उनके ऊपर अपना सर्वस्व निछावर कर देते। जब वे मीठा-मीठा विनोद करते हुए बीच-बीच में हँस पड़तीं तो ऐसा प्रतीत होता था मानों शरदकालीन चन्द्रमा से मोती झड़ रहे हों, महाराज उनके अट्टहास से अपने आपे को भूल जाते। इस प्रकार अपनी प्राणप्रिया बर्हिष्मती के साथ नित्यप्रति बढ़ने वाले आमोद-प्रमोद तथा क्रीड़ाओं के कारण वे अपने को अमराधिप इन्द्रसे बढ़कर सुख का अनुभव करने लगे। अपनी धर्मपत्नी में उनके ऐसे अनुराग को देखकर अविवेकी लोग समझते थे, कि इनका वह नारदजी वाला ज्ञान ध्यान तो अब प्रस्थान कर गया। अब तो ये विषयासक्त स्त्रीलम्पट अज्ञानी पुरुषों के समान

हो गये, किन्तु वास्तविक बात ऐसी नहीं थी, उनकी पूर्व निष्ठा में कोई भी अन्तर नहीं पड़ा।

महारानी बर्हिष्मती के गर्भ से महाराज के १० पुत्र और एक कन्या का जन्म हुआ। वे दशों पुत्र दश अग्नियों के नाम से संसार में विख्यात हुए। उन दशों के नाम क्रमशः आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, महावीर, हिरण्यरेता, घृतपृष्ट, सवन, मेधातिथि, वीतिहोत्र और कवि थे। कन्या का नाम ऊर्ज्वस्वती था।

इन १० में से ७ तो पृथ्वी के सातों द्वीपों के राजा हुए। शेष तीन कवि, महावीर सवन इन्होंने गृहस्थाश्रम स्वीकार नहीं किया। वे अविवाहित रहकर नैष्कि ब्रह्मचारी ही बने रहे। इन लोगों ने प्रवृत्ति मार्ग का अनुसरण करके महर्षियों द्वारा प्रशंसित निवृत्ति मार्ग का ही आश्रय ग्रहण किया जिसमें कि भव से भयभीत प्राणियों के आश्रय स्वरूप का सम्पूर्ण जीवों के सच्चे सुहृद् भगवान् वासुदेव के चरणारविन्द का सर्वदा चिन्तन किया जाता है। जिस आश्रम में अखण्ड एवं उत्कृष्ट भक्ति योग के द्वारा विशुद्ध हुए अन्तःकरण में उन्हीं प्रत्यगात्म्य स्वरूप अखिलेश का चिन्तन करते-करते अविशेष रूप से तादात्म्य प्राप्त किया जाता है, उसी परमहंस आश्रम में दीक्षित हो गये। वे संसारसागर को पार कर गये। इसी शरीर से उन्होंने परमपद की प्राप्ति कर ली। शेष ७ कुमार पिता की आज्ञा में रहकर पृथ्वी के पालन में योगदान देने लगे। अपनी प्यारी पुत्री ऊर्ज्वस्वतीका विवाह उन्होंने असुरों के पुरोहित भगवान् शुक्राचार्य के साथ कर दिया। जिससे देवयानी नामक कन्या हुई जिसका पाणिग्रहण राजर्षि ययाति ने किया।

महाराज प्रियव्रत की एक दूसरी रानी थी, जिनके गर्भ से उत्तम, तामस और रैवत नामक तीन प्रभावशाली पुत्र हुए। ये तीनों-के-तीनों मन्वन्तरों के अधिपति मनु हुए। तीनों के नाम से पृथक्-पृथक् मन्वन्तर प्रसिद्ध हुए, जिन्होंने अपने-अपने मन्व-

न्तर पर्यन्त तीनों लोकों का शासन किया। महाराज ने अपने बाहुबल से अरबों वर्ष इस समस्त वसुन्धरा का पुत्र के समान पालन किया।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज प्रियव्रत के समान तेजस्वी प्रतापी आज तक न कोई राजा हुआ है, न होने की संभावना ही है। वे दूसरे प्रजापति ब्रह्मा के समान शक्तिशाली थे। जो पराक्रमी होते हैं, उन्हें कुछ-न-कुछ विचित्र ही सनक सूझती है। एक दिन महाराज ने सोचा—"ये मरीचि-माली भगवान् सूर्य सदा सुमेरु की प्रदक्षिणा करते रहते हैं। जिधर ये जाते हैं, उधर तो प्रकाश फैल जाता है, जिधर छाया हो जाती है उधर अन्धकार हो जाता है। इससे आधे भू भाग पर दिन होता है, आधे पर रात्रि। मैं पुरुषार्थ से ऐसा कर दूँ, कि कहीं भी कभी रात्रि न हो। सदा दिन ही होता रहे। यह सोचकर उन्होंने सूर्य के ही समान ज्योतिर्मय एक दिव्य रथ बनाया उस रथ पर चढ़कर वे आकाश में सूर्य के विरुद्ध सुमेरु की प्रदक्षिणा करने लगे। अब कहीं रात्रि ही नहीं होती थी। सभी प्राणी बड़े दुखी हुए। रात्रि में प्राणि सोकर अपना श्रम मिटा लेते थे, अब तो कभी रात्रि ही नहीं होती थी। महाराज का रथ ऐसा दिव्य था, कि उसके पहिये पृथ्वी पर थे और आकाश में सूर्य समान चमकता था। महाराज ने इस प्रकार अपने रथ से पृथ्वी की ७ प्रदक्षिणा की। तभी बीच में आकर ब्रह्माजी ने उन्हें रोक दिया, कि यह तुम क्या गड़बड़-सड़बड़ कर रहे हो। अपने प्रभाव को इस प्रकार नहीं दिखना चाहिये। दिन रात्रि दोनों होने दो। ब्रह्माजी की बात महाराज ने मान ली। किन्तु सात बार प्रदक्षिणा करने से जो रथ की ७ लीक बनी ये ही पृथ्वी पर ७ समुद्र हो गये।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह बात तो

हमें कुछ गप्पाष्टक-सी ही प्रतीत होती है। रथ के पहियों से सात समुद्र बन गये। न तो हमें, सात समुद्र ही दिखायी देते हैं, न यह बात ही बुद्धि में बैठती है। यह तो नशेड़ूखाने की गप्प-सी प्रतीत होती है। जैसे मद पीकर मदमाते पुरुष गप्प हाँका करते हैं, कि हमारे बाबा ऐसे थे, जिनकी हजार मन रुई की पगड़ी बनती थी। उनमें लाख मन धान बोया जाता था, करोड़ मन अन्न होता था। अरबों आदमी खाते थे। उनकी नाक से खरबों हाथी निकले थे। ये तो ऐसी ही बातें बिना सिर पैर की प्रतीत होती हैं।"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज! ऋषि होकर भी आप ऐसी बातें पूछते हैं। ऐसी शंकायें तो नास्तिक लोग करते हैं, जिन्हें भगवान् की अपरिमेय शक्ति पर विश्वास नहीं। ये इतने नदी नद, सागर, पर्वत आदि बने हैं, किसी के द्वारा ही तो बने होंगे।"

शौनकजी ने कहा—"ये तो स्वतः प्रकृति के द्वारा अपने आप बन जाते हैं।"

सूतजी बोले—"भगवन्! अपने आप कोई चीज नहीं बनती। प्रकृति तो स्वयं जड़ है। जब तक उसमें चैतन्य का समावेश न होगा अपने आप कोई वस्तु कैसे बन सकती है। इसके लिये कुछ निमित्त चाहिये। उपादान चाहिये। सबके निमित्त और उपादान श्रीहरि ही हैं, वे स्वयं ही निमित्त बनाकर जिससे जो चाहें कार्य करा सकते हैं। जिनके द्वारा इन समुद्रों की रचना हुई है, वे ही प्रियव्रत हैं। इन बातों का आध्यात्मिक अर्थ भी है यहाँ कथा प्रसङ्ग में उसका विस्तार करना नहीं चाहता।"

शौनकजी ने कहा—"अच्छी बात है, इन सब बातों पर फिर समयानुसार शङ्का समाधान होगा, अब तो आप उस कथा प्रसङ्ग को ही पूरा करें। ७ समुद्र सात द्वीप कौन-कौन हुए और राजा

प्रियव्रत ने अपने किस पुत्र को किस द्विप का राजा बनाया यह बात बताइये ?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"हाँ, भगवन् ! इन सब विषयों का विशद विवेचन भूगोलक प्रसंग में होगा अब तो मैं आपको अपने गुरुदेव के बताये हुए द्वीप और समुद्रों का ही नाम बताता हूँ।"

महाराज परीक्षित् के पूछने पर भगवान् शुक कहने लगे—"राजन् ! सात समुद्रों के बीच-बीच में जो पृथ्वी रह गयी वे ही सप्तद्वीप कहलाये। उनके नाम जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप, शाल्मलि-द्वीप, कुशद्वीप, क्रौञ्चद्वीप, शाकद्वीप और पुष्करद्वीप हैं।"

राजा परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो ! क्या ये सभी द्वीप समान ही लम्बे चौड़े हैं, या कुछ न्यूनाधिक ?"

शुकदेवजी ने कहा—"नहीं, महाराज ! ये सब समान नहीं हैं। ये एक दूसरे से दुगने-दुगने फासले पर हैं। ऐसे जम्बूद्वीप से प्लक्षद्वीप दुगुना है प्लक्ष से शाल्मलि दुगुना है। ऐसे ही आप समझें ? जिस द्वीप में हम बैठे हैं, उसका नाम जम्बूद्वीप है। इन सबके चारों ओर एक-एक समुद्र घिरा है। इसलिये दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं। योगियों को छोड़कर दूसरा कोई भी मनुष्य एक द्वीप से दूसरे द्वीप में नहीं जा सकता। इसलिये नास्तिक लोग कहते हैं कि ये द्वीप हैं ही नहीं। कोरी चण्डू खाने की गप्पें हैं। किसी ने बैठे-बैठे उपन्यास की भाँति इन सबको गढ़ दिया है। उनके लिये अब हम क्या कहें।"

राजा ने पूछा—"भगवन् ! सातों समुद्रों के क्या नाम हैं और वे किस-किस द्वीप के चारों ओर घिरे हैं"

श्रीशुकदेवजी ने कहा—"राजन् ! इन सातों समुद्रों का नाम क्षार समुद्र, इक्षुरस समुद्र, सुरा समुद्र, घृत समुद्र, क्षीर समुद्र, दधिमंड समुद्र और शुद्ध जल समुद्र हैं। ये क्रमशः सातों द्वीपों

के चारों ओर हैं। जैसे जम्बूद्वीप के चारों ओर खारा समुद्र है, प्लक्ष के चारों ओर ईख रस समुद्र, शाल्मलि के चारों ओर सुरा समुद्र, ऐसे ही सबको समझना चाहिये।"

राजा ने पूछा—"महाराज! यह बात समझ में आई नहीं। दूध, घी, दही, सुरा, ईख का समुद्र कैसा? इनमें क्या घी-ही-घी या दूध-ही-दूध भरा रहता है?"

यह सुनकर शुकदेवजी ने कहा—"नहीं, राजन्! रहता तो इनमें जल ही है, किन्तु उस जल में उन-उन वस्तुओं के तत्त्व अधिक होते हैं। जैसे तुम्हारे जम्बूद्वीप के चारों ओर लवण समुद्र है तो क्या इसमें नमक-ही-नमक थोड़े ही भरा रहता है? पानी में नमक का अंश अधिक है। इस द्वीप के होने वाले प्राणियों के आहार में लवण के पदार्थों का बाहुल्य होता है। चाहे आप प्रत्यक्ष नमक न खायें, फिर भी साग, फल, अन्न आदि यहाँ के पदार्थों में अन्य द्वीपों की अपेक्षा लवण का अंश अधिक रहता है। इसी प्रकार जिन द्विपों के चारों ओर दूध, दही, घी, सुरा आदि के समुद्र होते हैं, उनमें रहता तो पानी ही है, किन्तु क्षीर सागर के जल में दूध का ही स्वाद होता है, दूध-सा ही जल होता है घृत सागर में घी के समान गुणकारी स्वादिष्ट जल होता है। जैसे क्षार समुद्र को पीते ही मुँह नमकीन हो जाता है, वैसे ही इन द्वीपों के जल को पीने से मुख का स्वाद वैसा ही हो जाता है। ये समुद्र अपने द्वीप के ही समान नाम वाले हैं। जैसे राजाओं के किले के चारों ओर बड़ी गहरी खाई होती है, जिसमें जल भरा रहता है, कोई शत्रु किसी ओर से किले में न घुस सके, इसी प्रकार ये समुद्र द्वीपरूपी किलों की खाइयाँ हैं। महाराज प्रियव्रत ने अपने सातों पुत्रों को इन सातों द्वीपों का राजा बना दिया जैसे जम्बूद्वीप में आग्नीध्र को, प्लक्ष-द्वीप में इध्मजिह्व को, शाल्मलिद्वीप में यज्ञबाहु को, कुशद्वीप में

हिरण्यरेता को, क्रौञ्चद्वीप में घृतपृष्ठ को, शाकद्वीप में मेधातिथि को और पुष्कर द्वीप में वीतिहोत्र को राजा बना दिया।"

महाराज परीक्षित् कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार महाराज प्रियव्रत ने जब सातद्वीप, सात समुद्रों की रचना करके उन सब का अपने सातों पुत्रों को बँटवारा कर दिया, उनके कन्धों पर राज्यभार सौंप दिया, तब फिर उन्हें वैराग्य हुआ और अब वे फिर नारदजी के उपदेश का स्मरण करने लगे।"

छप्पय

नृप सोचें शुचि सूर्य प्रदक्षिण मेरु करें नित।
होवे उतकूँ निशा दिवस होवे तबई इत॥
करूँ दिवसकूँ राति न होवे तम जग माहीं।
ज्योतिर्मय रथ चढ़े सूर्य के पाछे जाहीं॥
सात प्रदक्षिण तें भये, सात द्वीप अरु उदधि सब।
समुझाये विधि आइ जब, छोड़्यो नृप संकल्प तब॥

महाराज प्रियव्रत का गृहत्याग

[२११]

प्रियव्रतकृतं कर्म को नु कुर्याद्विनेश्वरम् ।
यो नेमिनिम्नैरकरोच्छायां घ्नन् सप्त वारिधीन् ॥*

(श्री भा० ५ स्क० १ अ० ३९ श्लोक)

छप्पय

कौन करि सके कर्म प्रियव्रत सम नृप जगमहँ ।
कीन्हें सात समुद्र चलत रथ नभ के मगमहँ ॥
सौंपि सुतनिकूँ राज मोह ममता सब त्यागी ।
समुझे विष सम विषय बने नृपतें वैरागी ॥
सप्त द्वीप की वसुमती, तृन सम त्यागी पलक महँ ।
को तिनके सम है सकें, तजि ईश्वर या जगत महँ ॥

कितने भी बली हों, शूर हों, पराक्रमी हों, यशस्वी, तपस्वी, तेजस्वी हों, इस भूमि के संसारी भोगों का त्याग सभी को करना पड़ता है। कोई चाहे हम सदा इस पृथ्वी का भोग करते रहें, तो यह असंभव है, कभी न होने वाला मनोरथ है। जब एक दिन विवश होकर त्याग करना ही है, तो बुद्धिमान पुरुष उसे स्वयं ही त्याग देते हैं। इसलिये वर्णाश्रम धर्म में प्रचीन प्रथा थी

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज प्रियव्रत ने जो कर्म किये उन्हें ईश्वर के अतिरिक्त और कर ही कौन सकता है ? देखिये जिन्होंने अपने रथ के पहिये की नेमि से सात समुद्र बना दिये।"

कि जब पुत्र के भी पुत्र हो जाता तब बड़े-बड़े सम्राट सब कुछ छोड़कर बनवासी बन जाते, वानप्रस्थ धर्म में दीक्षित हो जाते। वे ग्राम्य अन्न का अशन त्यागकर वन के कन्द मूल फलों पर ही निर्वाह करते। राजसी वसनों को त्याकर चीर वल्कल पहनकर तपस्या में निरत हो जाते।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज! प्रियव्रत ने जब अपनी वृद्धावस्था को आगे से मुँह बाये आते हुए देखा, तब तो उनका चित्त संसारी विषयभोगों से हट गया। पुत्रों को राजा बना दिया और अब वे अपने हृदय को टटोलने लगे। उन्हें वे दिन स्मरण हो आये, जब गुरुदेव नारदजी के चरणों के समीप बैठकर वे परमार्थ चर्चा करते हुए ब्रह्मानन्द सुख का निरन्तर अनुभव करते थे। कैसे वे प्यारे दिन थे।। यह दृश्य प्रपञ्च आँखों के सामने रहने पर भी नहीं दीखता। न कोई चिन्ता न शोक, सर्वेश्वर के ध्यान में निमग्न होकर समाधि सुख में निमग्न बने रहते थे। जब से उस स्थिति को छोड़कर गृहस्थ बने तब से अब तक एक दिन भी उस सुख का अनुभव नहीं हुआ। ऐसी सुख शान्ति क्षण भर को भी नहीं मिली। उन दिनों की स्मृति आते ही उनका हृदय हिल गया। वे पश्चात्ताप करते हुए मन ही मन विचार करने लगे—"अरे, यह तो बड़ा बुरा हुआ। मैं विषयों के द्वारा ठगा गया। मेरी सद् असद् अवलोकन की शक्ति नष्ट हो गई। अन्धे पुरुष के समान मैं अविद्या जनित विषम विषय रूप अन्धकूप में अपने आप कूद पड़ा। अपनी स्वतन्त्रता की बुद्धि को खोकर पराधीन हो गया। सर्व समर्थ पुरुष होने पर भी बनिता का क्रीड़ा मृग बन गया। ऐसे मुझ मंद मति गूढ़ ज्ञान से रहित मूढ़ को पुनः-पुनः धिक्कार है। अब मैं इस गृहस्थ रूप अन्धकूप में अधिक दिनों तक अचेतन बनकर न पड़ा रहूँगा। अब शक्तिहीन बनकर संसार-सागर में गोते न

खाता रहूँगा।" इतना सोचकर उन्होंने अपने पुत्र को बुलाया और अपना मनोगत संकल्प कह सुनाया। सुनकर सभी अधीर हो गये। राजमहिषी बर्हिष्मती ने जब सुना कि मेरे पतिदेव तो अब राजपाट छोड़कर वनवासी विरागी बनना चाहते हैं, तो वह भी छाया के समान उनके पीछे-पीछे हो ली। महाराज अपने पुत्रों और प्रजाजनों को रोते छोड़कर अपने समस्त भूमण्डल के राज्य को मृतक देहवत त्यागकर, हृदय में तीव्र वैराग्य धारण करके भगवान् की मधुरातिमधुर सुललित लीलाओं का चिन्तन करते हुए, अपने गुरुदेव देवर्षि नारद के बताये हुए मार्ग का पुनः अनुसरण करने लगे। प्रातः का भूला सायंकाल तक घर लौट आवे तो उसे भूला नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार गृहस्थाश्रम का इतना अन्तराय उपस्थित होने पर भी उनके त्याग में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा। वे अपने विवेक वैराग्य के द्वारा इस अथाह संसार सागर को बात की बात में तर गये।

भगवान् शुकदेव महाराज! परीक्षित से कहते हैं—"राजन्! उन सत्यव्रत महाराज प्रियव्रत के गुणों का बखान कर ही कौन सकता है। जिन्होंने अपने पुरुषार्थ से पृथ्वी के पुण्य प्रद द्वीपों का विभाग कर दिया। रथ के चक्र से समुद्रों को बना दिया। सूर्य के समान नभ में उदित होकर सूर्य को भी अपना प्रभाव जना दिया। नद, नदी, गिरि, पर्वत, वन, उपवन सभी की सीमा नियत कर दी। इतना वैभव होने पर भी अन्त में जिन्होंने पृथ्वी स्वर्ग आदि के समस्त सुखों को निरय के समान निस्सार और दुखद समझा। उनकी समानता ईश्वर के अतिरिक्त किसी सांसारिक पुरुष के साथ की ही नहीं जा सकती। उनका प्रभाव अब तक व्याप्त है; वे प्रजापतियों के भी पूज्य और मनुओं के भी माननीय थे, देवता भी जिनका आदर करते थे।"

इस पर महाराज परीक्षित ने कहा—"भगवन्! आपने मनु

पुत्र महाराज प्रियव्रत का संक्षिप्त चरित्र तो सुनाया। अब मैं उनके पुत्रों का वंश और सुनना चाहता हूँ।"

यह सुनकर श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन्! प्लक्ष, शाल्मलि कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर द्वीपों के जो महाराज प्रियव्रत के पुत्र राजा हुए उन्हें तो एक प्रकार से स्वर्ग के इन्द्र के समान ही समझना चाहिये, क्योंकि जम्बू द्वीप को छोड़ शेष ६ द्वीप भौम स्वर्ग कहे गये हैं इनमें मनुष्य केवल पृथ्वी के दिव्य भोग भोगने के लिये ही आते हैं। कर्म तथा पारमार्थिक साधन के लिये तो यह जम्बूद्वीप ही है। जम्बूद्वीप भी पूरा नहीं। इसमें भी ९ खण्ड हैं। ८ खंड तो स्वर्ग के समान हैं, केवल भरत खंड ही कर्म भूमि है। इसी भरत खण्ड में मनुष्य शुभ अशुभ कर्म करके स्वर्ग अथवा नरक जा सकता है तथा ज्ञानानन्तर मोक्ष प्राप्त कर सकता हैं। अतः विशेष विवरण हम महाराज प्रियव्रत के ज्येष्ठ श्रेष्ठ प्रिय पुत्र जम्बू द्वीपाधिप महाराज आग्नीध्र का तथा उनके वंश का ही करेंगे। फिर शेष अन्य ६ द्वीपों के अन्य राजाओं का।" महाराज परीक्षित ने नम्रता के साथ कहा—"हाँ भगवन्! आप सर्व प्रथम महाराज प्रियव्रत के प्रथम पुत्र पुण्यश्लोक महाराज आग्नीध्र का ही चरित्र सुनावें। उन्होंने कैसा राज्य किया और उनके कितने पुत्र हुए।"

इस पर भगवान् शुक कहने लगे—"राजन्! जब महाराज प्रियव्रत वन को चले गये, तब आग्नीध्र इस क्षार समुद्र से घिरे जम्बूद्वीप के राजा हुए। वे जम्बूद्वीप में निवास करने वाली प्रजा का पुत्रवत् पालन करने लगे। अब उन्हें अपनी वंश परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के निमित्त पुत्र प्राप्ति की इच्छा हुई। पुत्र तो तभी हो सकता है, जब अपने मनोनुरूप पत्नी की प्राप्ति हो, अतः वे पत्नी के निमित्त प्रजापतियों के भी पति भगवान् ब्रह्मा की आराधना करने का विचार करने लगे।

इस पर महाराज ! परीक्षित ने पूछा—"भगवन् ! आजकल तो राजा लोग चाहे जितने विवाह यों ही कर लेते हैं। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी के १६१०८ रानियाँ थीं। उनकी बात छोड़ दीजिये क्योंकि वे तो जगत के पति ईश्वर ही हैं। और भी जितने राजा हैं, विवाह के लिये तप करते तो हमने किसी को देखा नहीं, इसके विपरीत कन्या पक्ष के लोगों को तो हमने अपनी कन्या के लिये योग्य वर खोजने के निमित्त व्यग्र होते बहुत देखा है। प्राचीन काल में यही सुना जाता है, अमुक ऋषि ने विवाह के लिये इतना तप किया। अमुक राजा बहू के लिये इतने वर्ष आराधना करते रहे। कर्दम जैसे महामुनि विवाह के लिये ही हजारों वर्ष तपस्या करते रहे। प्रचेताओं के तप का भी उद्देश्य प्रजा वृद्धि पत्नि-प्राप्ति ही था। अब आप कह रहे हैं, प्रियव्रत पुत्र महाराज आग्नीध्र ने भी सत्पुत्र की प्राप्ति के लिये पितृलोक की कामना से प्रजापतियों के पति भगवान् कमल योनि की आराधना की। यह क्या बात है ?"

यह सुनकर शुकदेवजी हँस पड़े और बोले—"राजन् ! पुत्र वही कहलाता है, जो भगवत् भक्त हो, दानी तथा शूर-वीर हो। सों कुत्ता बिल्ली की भाँति हर नौवें महीने चूहे के बच्चे के समान दुबले पतले मनुष्य की आकृति के बच्चे पैदा हो गये, वे वास्तव में पुत्र नहीं। जहाँ से मूत्र निकलता है वहीं से पुत्र भी। यदि वह धार्मिक है, धर्माचरण से अपने पितरों का पुन्नामक नरक से उद्धार करता है, तब तो वह पुत्र है, नहीं तो मल मूत्र के कीड़े के समान है। योग्य पत्नी से ही योग्य पुत्र की उत्पत्ति हो सकती है। इसीलिये आर्य धर्म में विवाह के पूर्व कन्या के कुल, गोत्र, शील स्वभाव के ऊपर विशेष रूप से ध्यान रखा जाता है। कुलीन कन्या के साथ विवाह करने से ही सुयोग्य सन्तान होगी। इसीलिये प्राचीन काल में जो मिल

जाय उन्हीं से विवाह नहीं कर लेते थे। दूसरी बात यह है, कि सृष्टि के आदि में स्त्रियों की बहुत कमी थी मर्त्यलोक में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की उत्पत्ति अधिक होती थी। दिव्यलोकों में अपने आप उत्पन्न होने वाली परम सुन्दरी अप्सरायें होती थीं। वे देवताओं को छोड़कर मर्त्यलोक के मनुष्यों के साथ सम्बन्ध रखने में अपना अपमान समझती थीं। इसीलिये कुलीन पुरुष या तो इस धराधाम पर उच्च कुल में उत्पन्न दोष रहित परम सुन्दरी कन्या को चाहते थे या स्वर्गादि ऊपर के लोकों में निवास करने वाली स्वर्ग की रमणियों को। स्वर्गीय रमणियों की प्राप्ति बिना घोर तपस्या के हो नहीं सकती। इसीलिये वे तपस्या करते थे। अपनी प्रिय इष्ट वस्तु की जितना ही अधिक प्रतीक्षा की जायगी, उसकी प्राप्ति में उतनी ही अधिक प्रसन्नता होगी, अतः प्रतीक्षा की वृद्धि हो इसी हेतु प्रेम भाव को बढ़ाने के निमित्त करते हैं।"

महाराज परीक्षित् ने पूछा—"तब भगवन्! उन्होंने ब्रह्माजी का ही आराधन क्यों किया? देवाधिदेव भगवान् विष्णु की आराधन करते।"

यह सुनकर शुकदेवजी बोले—"राजन्! ब्रह्मा, विष्णु, महेश सब उन्हीं हरि के रूप हैं। देवता भी उनके ही रूप हैं। जैसे जल कहीं भी बरसे फिर फिर कर समुद्र में ही जायगा। इसी प्रकार किसी देव को नमस्कार करो, पहुँचेगा वह श्रीमन्नारायण के ही निकट। फिर भी पृथक्-पृथक् कामनाओं के लिये पृथक्-पृथक् देवताओं की आराधना की जाती है। जैसे तेज की इच्छा वालों को सूर्य की उपासना करनी चाहिये, धन की इच्छा वालों को वसुओं की, स्वर्ग की कामना वालों को देवों की, राज्य की कामना वालों को विश्वदेवों की, प्रतिष्ठा की इच्छा वालों को पृथ्वी, रूप की इच्छा वालों को गन्धर्वों की उपासना करनी

चाहिये। इसी प्रकार प्रजा की कामना करने वालों को प्रजापति ब्रह्मा का आराधन करना चाहिये। इसीलिये महाराज आग्नीध्र ने सुर सुन्दरियों के क्रीड़ा स्थान मन्दराचल पर्वत की कन्दरा में जाकर, पूजा की विविध सामग्रियों को जुटाकर एकाग्रचित्त तथा तपोनिष्ठ होकर लोकपितामह भगवान् ब्रह्मा की आराधना करने लगे।

उनकी घोर तपस्या से ब्रह्माजी का सिंहासन हिल गया, अतः वे महाराज आग्नीध्र की मनोभिलाषा को पूर्ण करने की बात सोचने लगे। उनकी सभा में सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी पूर्वचित्ति नामक अप्सरा ताल स्वर के सहित गान कर रही थी। उसके अनिन्द्य सौन्दर्य को निहार कर भगवान् कमलासन अत्यन्त प्रसन्न हुए और उसे महाराज आग्नीध्र के अनुरूप अनुभव करने लगे।

छप्पय

राजपाटकूँ त्यागि चले राजा वन माहीं।
रानी वर्हिष्मती चलीं छाया की नाईं॥
सुत आग्नीध्र महान् भये भूपति जम्बूपति।
पाले पुत्र समान प्रजाकूँ नित प्रति नरपति॥
सुत हित सुर सुन्दरि सदन, मन्दरगिरि की गुहा महँ।
तप करि पूजे प्रजापति, राजत्यागि नृप रहहिँ तहँ॥

प्रियव्रत का पुत्र आग्नीध्र और पूर्वचित्ति अप्सरा

[३१२]

का त्वं चिकीर्षसि च किं मुनिवर्य शैले
मायासि कापि भगवत्परदेवतायाः ।
विज्ये बिभर्षि धनुषी सुहृदात्मनोऽर्थे
किं वा मृगान् मृगयसे विपिने प्रमत्तान् ॥*

(श्री भा० ५ स्क० २ अ० ७ श्लोक)

छप्पय

विधि नृप मन की बात जानि वर वधू पठाई ।
पूर्वचित्ति आदेश पाइ नृपति ढिँग आई ॥
व्रीड़ा क्रीड़ा सहित मधुर चितवन मुसकावत ।
यौवन के मद भरी रूप रस सो बरसावत ॥
नृप निहारी अप्सरा, खोयो मन मोहित भये ।
रूपासवकूँ पान करि, मदमाते से है गये ॥

---

* श्रीशुक कहते हैं—"राजन् ! जब महाराज आग्नीध्र के निकट पूर्वचित्ति आई तो वे पूछने लगे—हे मुनीश्वरी तुम कौन हो ? इस शैल पर तुम्हारी क्या करने की इच्छा है ? क्या तुम पर पुरुष भगवान् की कोई माया तो नहीं हो ? हे सुहृद ! तुमने बिना प्रत्यञ्चा के ये दो धनुष क्यों धारण कर रखे हैं ? क्या तुम इस अरण्य में प्रमत्त मृगों को मृगया के निमित्त खोजती फिरती हो !"

रूप का आकर्षण मनुष्य की स्वाभविक चेतना को नष्ट कर देता है। कितना भी ज्ञानी ध्यानी विवेकी पुरुष क्यों न हो, जहाँ उसे रूप की गन्ध आ गई, जहाँ उसने सौन्दर्य की मादक सुधा का पान किया, वहीं वह मतवाला बन जाता है। चराचर विश्व में उसे अपनी प्रिय वस्तु का ही ध्यान होता है। भगवान् न करें कि किसी की किसी पर अत्यधिक आसक्ति हो, यदि प्रारब्धवश किसी पर आसक्ति हो ही जाय, तो वह उसे प्राप्त हो जानी चाहिये। न प्राप्त होने पर प्राणों की बाजी लगानी पड़ती है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज प्रियव्रत तो अच्युत के भक्त थे और उनके पुत्र अप्सरा के भक्त हो गये। जब वे मन्दराचल की गुफा में सन्तान की कामना से कमलासन की आराधना में निमग्न थे, तभी उन्हें वहाँ बसन्त की शोभा दिखाई दी। सम्पूर्ण पर्वत सजा बजा हँसता-सा उन्हें प्रतीत हुआ। उनके आश्रम के समीप सघन वृक्षों की अनियमित ऊँची-ऊँची अनेकों पंक्तियाँ दिखाई देती थीं। उन फूले फले वृक्षों से सुवर्ण के समान कान्ति वाली लतायें लिपटी हुई थीं मानों वे स्नेह भरित हृदय से अपने प्रियतम का गाढ़ालिङ्गन कर रही हों। उन लताओं के ऊपर शुक, सारिका, पारावत, मयूर आदि कलरव करते हुए चहक रहे थे। वे अपनी प्रियाओं के साथ किलोल कर रहे थे, एक दूसरे के शरीर में चोंचें मारकर प्रेमकलह में अपने आपे को भूले हुए थे। समीप के सरोवर में भाँति-भाँति के कमल खिल रहे थे। उनमें बैठे हुए हंस, सारस, जलकुक्कुट, कारण्डव आदि जलचर पत्ती मधुर वाणियों से बोल रहे थे। इसके कारण सरोवर ऐसे प्रतीत होते थे कि वे अपने कमलरूपी मुख को उठाकर शुभ्र दाँतों को दिखाकर, ठहाका मारकर हँस रहे हों। वनश्री सजीव होकर उस पर्वत प्रान्त में इठला रही थी, प्रकृति स्वच्छ और शान्त-सी प्रतीत होती थी। ऐसे ही सुखद समय में

यौवन मद से मदमाती, कटि के भार से इठलाती वह पूर्वचित्ति अप्सरा आश्रम के निकटवर्ती उपवन में इधर से उधर विचरने लगी। वह अपनी सुललित गति से, पादविन्यास से, विलास से, कंकण, किंकिणी और नूपुरों की सुमधुर ध्वनि से छुम्म-छुम्म करती हुई राजकुमार आग्नीध्र के चित्त को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करने लगी।

विजय वन में मधुर-मधुर नूपुर ध्वनि के श्रवण से राजकुमार का समाहित चित्त चञ्चल हो उठा। समाधियोग द्वारा मूँदे हुए अपने कमलनयनों को कुछ-कुछ खोलकर उन्होंने उस फुदकती हुई हरिनी के समान देव बधूटी को सम्मुख देखा। वह भ्रमरी के समान उड़ती-सी एक फूल से दूसरे फूल के समीप जाती और उसका रसपान करके उसका परित्याग कर देती। देव, दानव और मनुष्यों के मन और नयनों को आह्लादित कर देने वाली उसकी गति थी, वह बाल सुलभ चञ्चलता से चञ्चल-सी हुई क्रीड़ा कर रही थी, उसकी चितवन में लज्जा और विनय का सम्मिश्रण था, उसकी मृदु मधुर स्वरलहरी वीणा की सुमधुर ध्वनि को भी विनिन्मित करने वाली थी, उसकी अङ्ग प्रत्यङ्गों की बनावट सुगठित और सुन्दर थी सभी अङ्ग कोमल चढ़ाव उतार के तथा जैसे होने चाहिये वैसे ही मनोहर थे, वह काम की क्रीड़ा स्थली के समान कामना प्रिय पुरुषों को अपनी ओर हठात् आकर्षित करने वाली थी।

यह मर्त्यलोक की मानवी नहीं थी, वह ब्रह्मलोक की अमृत-पान करने वाली सुर ललना सुवर्ण की लड़ी के समान, पवित्र और पुण्यात्माओं के ही उपभोग की वस्तु थी। वह अपने आपही हँस जाती, हँसने से उसकी अमृतमयी मादक गन्ध दशों दिशाओं में फैल जाती, उस मद की सुन्दर सुरभि से आकर्षित होकर भ्रमरगण कमल के भ्रम से उसके मुख कमल को चारों ओर से

घेर लेते। उन भ्रमरों को अपने कर कमलों से हटाती क्रीड़ा का भाव दिखाती, पादपद्मों को शीघ्रता के साथ उठाती, वक्षःस्थल के भार को हिलाती, सर्पिणी के समान लम्बी लटकती हुई वेणी को हिलाती, कटि में बँधी क्षुद्र घण्टिकाओं वाली करधनी को खन-खनाती इधर से उधर नर्तकी के समान नाच रही थी।

अब तो कुमार सब ध्यान धारणा भूल गये। जो चित्त प्रजा-पति के ध्यान में एकाग्र था वह भावी प्रजावती सती के ध्यान में निमग्न हो गया। वे उसके रूपासव को पान करके पागलों के समान संज्ञाशून्य बन गये गये। जड़ पुरुषों के समान चेतना को खो कर बिना सिर पैर की बातें करने लगे। उस सुर सुन्दरी को लक्ष्य करके वे बोले—"हे तपस्विनी! तुम कौन हो? यहाँ तुम किस प्रयोजन से आई हो? ओहो! मालूम पड़ता है, तुम परात्-पर प्रभु की माया हो, तुमने ही इस चराचर विश्व को अपने वश में करके मोहित कर रखा है। इसीलिए तो मैं तुम्हारे दर्शन मात्र से ही मोहित हो गया। तुम्हें देखकर अपने आपे को भूल गया। देवि! तुम तपस्वी या तपस्विनी, मैं तो समझता हूँ, तुम कोई मृगया प्रेमी प्रबल पराक्रमी शूरवीर हो।

उसने कहा—"आप मुझे जीवों का वध करने वाला अधिक क्यों बता रहे हैं जी?"

व्यग्रता के साथ आग्नीध्र बोले—"हे शूरवीर! आप क्षमा करें, मैंने आपका अपमान करने के निमित्त ये शब्द नहीं कहे। आपकी जो ये कुटील भृकुटियाँ हैं, वे मुझे बिना प्रत्यञ्चा के धनुष के समान प्रतीत हुईं। कमल दल के समान काली बरौनी वाले ही जिनमें पङ्ख हैं ऐसे तीखे दृष्टि वाले विशाल नयन ही मुझे दो बाण से लगे। मुझे ऐसा लगा इस भवाटवी में मृग रूप जो विषयासक्त पुरुष हैं, उन्हें ही मारने के लिये तुम आये हो? ओ हो! मैं भूल गया! यह तो तपोवन है, यहाँ मृगयाप्रिय

वधिकों का क्या काम ? मालूम होता है, तुम कोई तपस्वी हो ?"

यह सुनकर राजा परीक्षित् ने कहा—"भगवन् ! पूर्वचित्ति तो स्त्री थी । महाराज आग्नीध्र उन्हें पुरुष रूप में क्यों सम्बोधित करते हैं ?"

इतना सुनते ही शुकदेवजी हँस पड़े और बोले—"राजन् ! जब मनुष्य पगला हो जाता है, विवेकहीन बन जाता है, तो उसे सूझता ही नहीं कि यह स्त्री है या पुरुष । पागलपन का एक वहक है । कभी आपने भाँग पीयी हो तो अनुभव हो भी सकता है । किसे भाँग पीने का अभ्यास नहीं, वह यदि गहरा चकाचक भाँग पीले, तो उसे यह पृथ्वी घूमती-सी दिखाई देती है । हँसेगा तो हँसता ही रहेगा । रोवेगा तो रोता ही रहेगा । जिसकी ओर देखेगा देखता ही रहेगा । स्त्री को पुरुष कहेगा, पुरुष को स्त्री । अभी यह कह रहा है, फिर चित्त दूसरी ओर चला गया, तो उसी को बकने लगा । उसी प्रकार महाराज अब तक मृगया प्रिय बहेलिया बता रहे थे अब कहने लगे—मालूम होता है, आप तो कोई कुलपति, वेदपाठी ऋषि हैं देखिये आपके चारों ओर जो ये काले-काले जीव गुञ्जार कर रहे हैं, ये आपके शिष्य है, वेदपाठ कर रहे हैं । यद्यपि मैं इनके गान का अर्थ नहीं समझ सकता हूँ, फिर भी भगवन् ! ऐसा प्रतीत होता है कि ये अव्यक्त रहस्यमय सामवेद का स्वर सहित गान कर रहे हैं । उस गान के द्वारा ही ऋषि प्रणीत अपनी-अपनी शाखाओं के सेवन से ईश्वर की आराधना-सी कर रहे हैं ।"

कुछ काल सोचकर कहने लगे—"मालूम होता है आपके तैत्तरेपि भी शाखावाले शिष्य पैरों में पड़ पाठ कर रहे हैं । तीतर के समान छम्म-छम्म ध्वनि तो उनकी सुन पड़ती है,किन्तु उनका रूप दिखाई नहीं देता । निश्चय ही आप तपस्वी तेजस्वी ऋषि हैं किन्तु मुझे ऐसा लगता है, यह जो आपके नितम्बों पर कदम्ब

किञ्जय, के समान पीली परम कान्तिमयी आभा है, इससे आप का तप तेज तो प्रकट होता है, किन्तु वल्कल वस्त्रों के न रहने से आप नग्न से प्रतीत होते हैं। आपकी कटि से यह रुनझुन शब्द किसका हो रहा है।

यह सुनकर पूर्वचित्ति ने कहा—"राजन्! मैं न ऋषि हूँ न तपस्वी मैं तो साधारण जीव हूँ।"

चौंककर महाराज आग्नीध्र बोले—"अरे आप कैसे जन्तु हैं। पशुओं के तो सिर में सींग होते हैं आपके वक्षस्थल में शृङ्ग हैं। इनमें लाल-लाल कीचड़ लगी है। इस कीचड़ से मेरा सम्पूर्ण आश्रम सुगन्धित हो उठा है। मेरा चित्त इस गन्ध से चञ्चल हो उठा है। आपके अत्यन्त मनोहर मधुर कमल मुख से अद्भुत हाव-भाव और कटाक्षों के कारण मैं विह्वल और विकल-सा बना हुआ हूँ। इन अनुपम अवयवों के अवलोकन से अपने आपसे बाहर हो गया हूँ। आपके अधर सुधारस पान के लिये अधीर-सा बन रहा हूँ।"

इस पर वह अप्सरा बोली—"राजन्! मुझे आप देवलोक की एक वाराङ्गना समझें। मैं न पुरुष हूँ, न ऋषि मुनि न मैं कोई पूँछ सींग वाली जानवरी ही हूँ।"

राजा चौंककर बोले—"ओ अब समझा। तुम मानवी नहीं देवी हो, तुम भौतिक पदार्थों का भोजन न करके दिव्यामृत का पान करने वाली वाराङ्गना हो। तुम भगवान् विष्णु की कमनीय कला हो। आपके कानों में मन मोहक मकराकृत हिलते हुए कुण्डल इस बात की साक्षी दे रहे हैं, कि वे पार्थिव जन्तु नहीं, अमर लोक के हैं, क्योंकि उनके कभी पलक नहीं गिरते।

यह सुनकर वह पूर्वचित्ति अप्सरा हँस पड़ी और हँसते-हँसते बोली—"महाराज! यह आप क्या काव्य-सा कर रहे हैं? कैसी बेतुकी उपमायें दे रहे हैं?

शुभ्रदन्तावली और चमकती हुई आँखों को देखकर राजा आग्नीध्र कहने लगे—"अहा! तुम्हारा मुख क्या है सुन्दर स्वच्छ सलिल वाला सकल शोभा युक्त सरोवर है, उसमें भयभीत बने ये कटीले-रसीले ये जो दो चञ्चल नेत्र हैं वे क्रीड़ा करतीं हुई मछलियों के समान हैं। जिस प्रकार चारों ओर बैठी हुई हंसों की पंक्तियाँ सरोवर की शोभा को बढ़ाती हैं, उसी प्रकार से तुम्हारी दन्तावली तुम्हारे मुख की शोभा को सतगुनी कर रही है। ये जो तुम्हारी काली-काली घुँघराली अलकावली है वह कमल के ऊपर बैठी भ्रमरावली के समान शोभायमान हो रही है। वायु तुम्हारे साथ ऐसा अशिष्ट व्यवहार कर रहा है फिर भी तुम कुपित नहीं होतीं उसे दण्ड नहीं देती। इस धूर्त का साहस तो देखो, इसने तुम्हारे जटा-जूट को खोलकर बिखेर दिया है। रेशम के समान काले कोमल कचों को वह हिला रहा है। बार-बार तुम्हारे क्षीण कटि वस्त्र को हटा रहा है तुम देखकर भी इसकी उपेक्षा क्यों कर रही हो।"

उस अप्सरा ने हँसकर कहा—"राजन्! मुझे ब्रह्माजी ने भेजा है। मैं उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके इस तपोवन में तुम्हारे साथ रहने के लिये आई हूँ।"

राजा इतना सुनते ही फिर बहक गये। फिर अण्ड-बण्ड कहने लगे—"अच्छा आप तपस्या करने आये हैं? तब तो आप भी कोई बड़े भारी तपोधन हैं। पहिले भी आपने घोर तप किया होगा, तभी तो ऐसा त्रैलोक्य मोहक अनवद्य सौन्दर्य प्राप्त किया है, जिस तपस्या से आपके ऐसे अनुपम रूप की उपलब्धि हुई है, उस तप की दीक्षा मुझे भी दे दो। मैं भी वैसा ही तप करके तुम्हारे जैसे रूप को प्राप्त करूँगा। मित्रवर मुझ एकाकी दीन-हीन साधन विहीन के साथ रहकर मेरे साहस को बढ़ाओ, मुझे अपना मन्त्र दीक्षित् शिष्य बनाओ। हम तुम दोनों मिलकर ही

तपस्या करेंगे और चैन की वंशी बजावेंगे। जब हम तुम एक मन एक प्राण होकर उन प्रजापतियों के पति लोकनाथ कमलासन की उपासना करेंगे, तो वे अवश्य ही हमें इष्ट वस्तु की प्राप्ति करावेंगे, हमें मनोवांछित फल देंगे।"

इस पर अप्सरा बोली—"राजन्! आप प्रकृतिस्थ हूजिये। मोह का परित्याग कीजिये। आपकी आराधना सफल हो गई है, लोक पितामह भगवान् ब्रह्मा आप पर सन्तुष्ट हो गये हैं, उन्होंने स्वयं ही मुझे यहाँ आपकी दासी बनकर रहने को भेजा है।"

राजा इतना सुनते ही खिलखिला कर हँस पड़े और बोले—"स्वागतम्! स्वागतम्! अच्छा, भगवान् चतुरानन ने मेरे ऊपर इतनी कृपा की। तुम्हें मेरे साथ रहने को भेजा है, तब तो हे मेरे जीवन सर्वस्वी, मैं तुम्हें किसी भी दशा में अब नहीं छोड़ सकता। तुम मेरे साथ समय बिताओ, विरह-व्यथा व्यथित इस विरही के तन की तपन बुझाओ, मेरा पाणिग्रहण करके मुझे अपनाओ, अब और अधिक न रुलाओ। मुझे अपने चरणों का किंकर बनाओ। मेरे ये चञ्चल नेत्र तुम्हारे अनूप रूप के दर्शन से तृप्त नहीं होते, तुम्हारे तन में लगी दृष्टि अब अन्यत्र कहीं जाने से स्पष्ट निषेध कर रही है, वह तुम्हारे विषमवपु में एकी-भूत-सी हो गई है। चित्त ने अब और सभी का चिन्तन करना छोड़ दिया है, वह तुम्हारे ही अंगों में फँस-सा गया है। हे सुन्दरी! सबसे सुन्दर तो मुझे तुम्हारे ये शृङ्ग लगते हैं, इनमें लगी कीचड़ की गन्ध से मेरा निर्बल मन झोटे से खा रहा है। हे शृङ्गी! मैंने अपने आपको तुम्हारे चरणों में सौंप दिया है, तुम चाहे अपनाओ या ठुकराओ। यहाँ रखो चाहे कहीं अन्यत्र ले चलो। मैं तो सर्वथा तुम्हारे अधीन हूँ, तुम्हारी पदधूलि का इच्छुक हूँ मैं तुम्हारी दासियों का दास हूँ, तुम अपनी दासियों को भी साथ ले चलो।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार अनेक प्रकार की अनुनय विनय करके राजा ने उस पूर्वचित्ति अप्सरा को अपने प्रेम पाश में कसकर बाँध लिया। उसे प्रसन्न करने को कामियों की भाँति अत्यधिक दीनता प्रकट करते हुए आकाश पाताल के कुलाबे एक करने लगे।"

परीक्षित् जी ने कुछ आश्चर्य-सा प्रकट करते हुए कहा—"भगवन्! ऐसा भी क्या मोह? राजा तो सर्वथा सिड़ी पागल के समान अपने आपको भूल गये। ऐसी अण्ड-बण्ड-सण्ड बातें करने लगे। इसमें हमें तो कुछ अत्युक्ति-सी प्रतीत हुई।"

इस पर हँसते हुए भगवान् शुक बोले—"राजन्! जिनके पैरों में बिवाई नहीं फटती वे पराई पीर का अनुभव कर ही नहीं सकते। जिनके हृदय पर कामिनी के कटाक्षरूप बाण, भृकुटि रूप चाप पर चढ़ाकर उसे ही लक्ष्य बनाकर छोड़े गये हों और उस बाण से व्यथित होकर जो संज्ञा शून्य बन गये हों, उस आतुरावस्था में जो व्यथित हृदय प्रलाप करता है, उसका मर्म सब नहीं समझ सकते। यह अनुभव गम्य विषय है, भगवान् न करें किसी के ऊपर ऐसी विपत्ति पड़े। प्रतीत होता है, आप कभी इस चक्कर में फँसे नहीं। तभी अनजानों की भाँति ऐसी भोली-भाली बातें कर रहे हैं।"

लज्जा का भाव प्रदर्शित करते हुए उत्तरातनय बोले—"नहीं भगवन्! यह मेरा अभिप्राय नहीं, कि मनुष्य मोहवश बहकते नहीं। फिर भी इतने बड़े तेजस्वी तपस्वी राजा की ऐसी संज्ञा शून्यता कुछ अनुपयुक्त-सी प्रतीत होती है।"

यह सुनकर हँसकर शुकदेवजी बोले—"महाराज! सच्ची बात तो यह है, राजा ने कोई एक बात कही होगी। कवियों ने उसमें नमक मिरच मिलाकर उसे चटपटी बना दिया। इन कवियों का यही धन्धा है। इनकी दृष्टि ही दूसरी है। संसार किसी

विषय को दूसरी दृष्टि से देखता है। यह बैठे ठाले बात बनाने वाले कवि उसमें सौन्दर्य की खोज करते हैं, रस का अन्वेषण करते हैं, उपमायें खोजते हैं। काव्य के माने ही यह हैं, जो रसात्मक हो, उसके सभी वर्ण सरस हों। नवों रसों का सञ्चार हो। कवियों से सभी ने हार मानी है। जहाँ न पहुँचे रवि तहाँ पहुँचे कवि। ये सब कवियों की सुखद कल्पना है, भाव जगत ही अनुपम हैं। राजन्! सारांश इतना ही हुआ कि महाराज आग्नीध्र उस पूर्वाचित्ति अप्सरा पर विमुग्ध हो गये।"

महाराज ने पूछा—"हाँ, तो महाराज! फिर क्या हुआ ?"

इस पर शुकदेवजी बोले—"इस बात को अगले अध्याय में बताऊँगा। इति श्रीभागवती कथा मद्धे आग्नीध्र विवाह प्रस्ताव नामक अध्याय समाप्त श्रीहरये नमः श्री राधे - श्री राधे बिना बहू नर आधे।"

छप्पय

राजा बोले—सखे ! परस्पर महँ अपनावें।
दोनों हिय को मार हार पहिने पहिनावें॥
मिलि जुलि खेलैं खेल प्रान को दाव लगावें।
द्वै मन एक मिलाय अंततें अङ्ग सटावें॥
अब अपनाओ अधम कूँ, अनुचर अपनो मानि कें।
प्रेम सुधा रस प्याय कें, ब्याओ जड़मति जानि कें॥

———

आग्नीध्र और पूर्वचित्तिका विवाह तथा पुत्रों की प्राप्ति

(३१३)

न त्वां त्यजामि दयितं द्विजदेवदत्तम्
यस्मिन्मनो दृगपि नो न वियाति लग्नम् ।
मां चारुश्रृङ्ग्यर्हसि नेतुमनुव्रतं ते
चित्तं यतः प्रतिसरन्तु शिवाः सचिव्यः ॥*

(श्री भा० ५ स्क० २ अ० १६ श्लोक)

छप्पय

कहि कहि मीठे बैन बढ़ाई प्रेम सगाई ।
विधि की भेजी बधू भूप विधिवत अपनाई ॥
नृपति भामिनी संग विषयसुख भोगें निशिदिन ।
रहि न सकें पल एक अप्सरा पूर्वचित्ति बिन ॥
भये यशस्वी पुत्र नौ, भूप परम प्रमुदित भये ।
ता प्रमदा के सङ्ग महँ, सहस बरस दिन सम गये ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! पूर्वचित्ति अप्सरा पर विमुग्ध हुए महाराज आग्नीध्र उससे कहने लगे—"हे चारु शृंगो वाली ! ब्रह्माजी के द्वारा भेजी हुई अत्यन्त प्रियतमा दयिता को मैं अब छोड़ नहीं सकता, क्योंकि तुम में फँसे हुए मेरे नेत्र और चित्त कहीं अन्यत्र जाने में असमर्थ हैं । अतः अब तुम्हारी जहाँ इच्छा हो वहाँ अपने इस अनुचर को ले चलो और ये तुम्हारी सुन्दरी सखियाँ भी साथ ही चलें ।"

जिन्होंने दत्तचित्त होकर अखिलेश की आराधना की है। अपनी इच्छा पूर्ति के लिये जिन्होंने क्षुद्र मरण शील मनुष्यों का आश्रय ग्रहण न करके अमरेश्वर की शरण गही है उनकी ऐसी कौन-सी इच्छा हो सकती है, जो पूरी न हो। समस्त विभव के स्वामी को प्रसन्न करके फिर दुर्लभ अप्राप्य वस्तु रह ही कौन-सी जाती है। कौन-सा ऐसा मनोरथ है जो मनोरथ के उद्‌गम स्थान में पहुँच कर भी पूरा न हो। जीव को भरोसा नहीं, विश्वास नहीं। यह अपने ही क्षुद्र हृदय से क्षुद्र जीवों के सम्मुख क्षुद्र-क्षुद्र मनोरथों को रखता है और विफल होता है। निष्काम हो या सकाम एक कामना हो या अनेक कामनायें, सभी की पूर्ति का एकमात्र आश्रय है प्रभु के पुनीत पादपद्म जिन्होंने उनका अवलम्बन लिया उनकी सभी इच्छायें एक साथ पूरी हो गई। इच्छायें ही पूरी नहीं हुई। जहाँ से इच्छायें उठती हैं, वह भी पूर्णता को प्राप्त हो जाता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब महाराज आग्नीध्र ने इस प्रकार उस पूर्वचित्ति के प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित किया तो वह ललना मुकुटमणि देवाङ्गना उन राजर्षि के शील स्वभाव विद्या बुद्धि, वय, वपु, श्रीकान्ती, उदारता, भावुकता आदि गुणों से परम सन्तुष्ट होकर उनकी पत्नी बन गई। उनके साथ सहधर्मिणी बनकर ब्रह्मलोक के सुखों को भूल गई और उन जम्बू द्वीपाधिपति के साथ सहस्रों वर्षों तक स्वर्गीय सुखों को भोगती रही।"

इस पर राजा ने पूछा—"प्रभो इतने बड़े कुलीन धर्मात्मा महाराज आग्नीध्र ने अप्सरा के साथ विवाह क्यों किया। उन्होंने किसी कुमारी कन्या का पाणिग्रहण क्यों नहीं किया? सभी स्वर्गीय पुरुषों की उपभोग्य देवाङ्गना को उन्होंने अपनी धर्मपत्नी क्यों बनाया?"

इस पर श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन्! यह वस्तु पवित्र है, यह अपवित्र है, इसमें शास्त्र ही प्रमाण है। यह बात है, कि द्विजों की परोपभोग्या ललना समान्यतया धर्मपत्नी नहीं बन सकती। किन्तु यह नियम भूलोक की ललना के लिये ही लागू है। सुर-सुन्दरी तो सर्वदा पवित्र मानी गयी हैं। देखिये, वैसे तो एक मुँह से लगाई वस्तु दूसरे के लिये त्याज्य है किन्तु शङ्ख को सभी बजाते हैं। वह हड्डी का होता है। पवित्र माना गया है। सुवर्ण की मुद्रा चाहे चांडाल के पास हो या द्विज के, पवित्र ही मानी जाती हैं। बछड़े के जूठे किये दूध को सभी पीते हैं। मधुमक्खी के मुँह से उगले शहद को अमृत के समान सभी खाते हैं, देवताओं की पूजा के काम में लाते हैं। भौराओं के द्वारा उच्छिष्ट किये हुए फूलों को देवताओं पर चढ़ाते हैं। महाराज पुरूरवा ने उर्वशी के संग विवाह किया जिससे चन्द्रवंश बढ़ा। स्वर्गीय देवलोक की अप्सरायें तो सुवर्ण और शङ्ख के समान पवित्र होती हैं फिर पूर्वचित्त तो सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मलोक की रमणी थी। पितामह ब्रह्माजी की आज्ञा से उनकी भेजी हुई ही आई थी, अतः उसके साथ पाणिग्रहण करना सर्वथा शास्त्रीय विधि से विहित ही था। यदि मर्त्यलोक की परभोग्या ललनासे द्विजाति विवाह करें तो उसकी सन्तानों द्वारा दिया हुआ पिंड और जल पितरों को प्राप्त नहीं होता। वह धार्मिक संतान न होकर वैषयिक सन्तान मानी जाती है।"

यह सुनकर राजा ने पूछा—"हाँ, तो भगवन्! महाराज आग्नीध के पूर्वचित्ति से कितनी संतानें हुई?" इस पर शुकदेव जी कहने लगे—"महाराज! जब पूर्वचित्ति के साथ आनन्द विहार करते हुए कई वर्ष व्यतीत हो गये तब उसके गर्भ से क्रमशः बड़े पराक्रमी शूरवीर दृढ़ प्रतिज्ञ और परम यशस्वी ९ पुत्र उत्पन्न

हुए उनके नाम नाभि, किंपुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्य मय, भद्राश्व और केतुमाल थे।"

प्रतीत होता है तब ज्येष्ठ को ही सम्पूर्ण राज्य दे देने की प्रथा प्रचलित नहीं हुई थी, इसीलिये राजा आग्नीध्र ने इस जम्बूद्वीप के ९ भाग कर दिये और उन ९ खण्डों में अपने नवों पुत्रों को राजा बना दिया। इसलिये जम्बूद्वीप के नौ खण्ड हो गये। ये सभी खण्ड आग्नीध्र के ९ पुत्रों के ही नाम से विख्यात हुए। जैसे नाभि खण्ड, किंपुरुष खण्ड, हरिवर्ष खण्ड, इलावृत खण्ड, रम्यमक खण्ड, हिरण्यमय खण्ड, भद्राश्व खण्ड, और केतुमाल खण्ड जिस खण्ड में हम बैठे हैं वह अजनाभि वर्ष या खण्ड है। जब नाभि के पौत्र भरत हुए तब से उसका नाम भरत खण्ड या भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ।

इस प्रकार उस अप्सरा ने क्रमशः ९ पुत्रों को पैदा करके एक दिन अकस्मात् ब्रह्मलोक को चली गयी। वह तो ब्रह्मजी की आज्ञा से आग्नीध्र की वंश परम्परा को अक्षुण्ण बनाने के निमित्त आई थी। उसके शरीर से न कभी धराधाम की सुन्दरियों के समान पसीना ही निकलता था न किसी प्रकार की दुर्गंधि ही आती थी, पृथ्वी पर रहकर भी वह अन्नादिक नहीं खाती थी, केवल घृत का पान करती थी। उसके जो पुत्र हुए वे सब उसी के अमृत पान करने के कारण मातृसंबंध से ही सुदृढ़ शरीर वाले तथा बली थे। उन्हें बड़े होने में देर नहीं लगी। वे पिता के दिये हुए अपने-अपने भूखण्डों में सुखपूर्वक राज्य भोगने लगे।

इधर जब पूर्वचित्ति राजा को छोड़कर ब्रह्मलोक चली गई, तो राजा उसके विरह में बड़े अधीर हुए, वे अभी तक भोगों से अतृप्त ही बने हुए थे। पूर्वचित्ति के सौन्दर्य में उनका चित्त ऐसा फँस गया, कि उसके बिना उन्हें सम्पूर्ण संसार सूना-सूना-सा ही प्रतीत होता था। उनके सभी वैदिक कर्म सकाम होते। वे

रात्रि दिन उस अप्सरा का ही चिन्तन करते रहते थे। मरने पर भी वे उसे भूले नहीं। उसी का चिन्तन करते-करते उन्होंने अपने इस पाञ्चभौतिक शरीर का त्याग किया। अन्त में वे अप्सरा की भावना करते-करते ही मरे थे, अतः उन्हें उसी अप्सरा के दिव्यलोक की प्राप्ति हुई। वे सकाम कर्म करने वाले लोकों में गये।

पिता के परलोक गमन के अनन्तर सभी भाई बड़े स्नेह से रहते हुए धर्मपूर्वक जम्बूद्वीप की प्रजा का पालन करने लगे।"

यह सुनकर महाराज परीक्षित ने कहा—"प्रभो! मैं महाराज आग्नीध्र के पुत्रों का भी वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ। कृपा करके उस राजर्षि के वंश का वर्णन मेरे सामने करें।"

राजा की जिज्ञासा को देखकर श्रीशुकदेवजी कहने लगे—"राजन्! महाराज आग्नीध्र के सभी पुत्र बड़े तेजस्वी हुए। उन सबमें ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ महाराज नाभि हुए। इनका चरित्र बड़ा ही सुन्दर है। इन्हीं के यहाँ स्वयं साक्षात् भगवान् नररूप में अवतरित हुए। जिनके यश सौरभ से यह जगत् अभी तक व्याप्त है। अब मैं सबसे पहिले महाराज नाभि के चरित्र को सुनाता हूँ। आप इसे अत्यन्त समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

नाभि और किंपुरुष इलावृत रम्यक कुरु-सुत।
केतुमाल भद्राश्व हिरण्मय भये धर्म युत॥
वर्षाधिप हरिवर्ष भये नौ परम यशस्वी।
नौ खण्डनि के भूप मनस्वी अति तेजस्वी॥
पूर्वचित्ति तब छाँड़ि सुत, तुरत गई निज लोकमहँ।
राजा अति व्याकुल भये, ग्वा प्रमदा के शोकमहँ॥

—:o:—

महाराज नाभि का चरित्र

[३१४]

ब्रह्मण्योऽन्यः कुतो नाभेर्विप्रा मङ्गलपूजिताः ।
यस्य बर्हिषि यज्ञेशं दर्शयामासुरोजसा ॥*

(श्रीभा० ५ स्क० ४ अ० ७ श्लोक)

छप्पय

काम्य कर्म करि नृपति पुण्य परलोक पधारे।
नौऊ वर्षाधीश भये अति प्रजहिँ पियारे॥
मेरु सुता नौ हतीं विवाहीं तिनके सँग महँ।
मेरुदेविं पति नाभि पाइ प्रमुदित अति मन महँ॥
पुत्र हेतु मख नाभिने, रच्यो विष्णु दरसन दये।
सहसा प्रभु दरसन भये, सब सम्भ्रम महँ परि गये॥

शास्त्रकारों ने काम की बड़ी निन्दा की है, किन्तु शास्त्रविहित काम, धर्म का अविरोधी काम शास्त्र सम्मत है। व्यासजी बार-बार हाथ उठाकर चिल्लाकर कहते हैं—"अरे भैया, तुम मेरी बात सुनते क्यों नहीं। मैं तुमसे कामोपभोग के लिये मना नहीं करता, मैं यह भी नहीं कहता कि तुम पैसा पास में न रखकर बाबाजी बन जाओ। तुम काम अर्थ उपार्जन करो किन्तु धर्मपूर्वक।

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् महाराज नाभि के समान ब्राह्मण भक्त कौन हो सकता है। जिनके द्वारा मङ्गल द्रव्यों से पूजित हुए ब्राह्मणों ने उन्हें यज्ञ में साक्षात् यज्ञेश श्रीविष्णु के दर्शन करा दिये।"

धर्म से प्राप्त अर्थ और काम स्वर्ग के हेतु हैं, धर्म से रहित ये दोनों नरक ले जाने वाले हैं। स्त्री कामना हो, तो विवाह करो, धर्मपूर्वक उसे अपनी पत्नी सहधर्मिणी बनाओ। पुत्र की कामना हो तो वेद विधि से भगवान् की उपासना करो, उनसे पुत्र के लिये प्रार्थना करो। तुम्हें अर्थ का अभाव है, उसके बिना गृहस्थी का काम नहीं चलता तो सम्पूर्ण धनों के अधीश्वर श्रीहरि से माँगो। उनकी शरण में जाने वालों के लिये कोई भी पदार्थ दुर्लभ नहीं। उनके लिये सभी सुलभ हो जाते हैं।

महामुनि शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! परलोक में महाराज आग्नीध्र ने पुनः अपनी प्यारी पत्नी पूर्वचित्ति को ही प्राप्त किया। जिस लोक में अपने-अपने सुकृतों के कारण पितृगण प्रमुगण होकर निवास करते हैं उसी को महाराज आग्नीध्र ने जीत लिया। पिता के परलोक पधारने के अनन्तर नौओं भाई राजा तो गये। किन्तु रानी के बिना सबका आधा सिंहासन सूना था। पुरुष अकेला पुरुष नहीं है। स्त्री को मिलाकर वह पूरा पुरुष कहलाता है। इसीलिये पुरुष शब्द सभी के लिये व्यवहृत होता है। पत्नी को भी इसलिये शास्त्रकार "अर्धाङ्गिनी" कहते हैं। ब्रह्माजी ने भी सृष्टि के आदि में अपने एक ही शरीर के दो भाग कर दिये। बायें भाग से स्त्री और दायें से पुरुष बने। इसलिये स्त्री को देवता और राजा सदा वामाङ्ग में बिठाये रहते हैं।

महाराज आग्नीध्र के नौओं राजकुमारों ने सोचा जैसे हम एक पिता के पुत्र हैं, वैसे ही किसी एक ही पिता की ९ कन्यायें हों तो हम सब भाई छोटी बड़ी के अनुसार क्रम से बँटवारा करलें। खोजने से उन्हें मालूम हुआ कि प्रजापति मेरु के यहाँ ९ कन्यायें हैं और सभी विवाह के योग्य हैं। बस फिर क्या था वानिक बन गया। सब भाइयों ने यथाविधि सबके साथ विवाह कर लिये। सबसे बड़े नाभि ने मेरुदेवी के साथ विवाह किया।

दूसरे कुमार किंपुरुष ने प्रतिरूपा का पाणिग्रहण किया। तीसरे कुमार हरिवर्ष ने उग्रदंष्ट्री को अपनाया। चौथे कुमार इलावृत्त ने लता को वरण किया। पाँचवें रम्यक की रम्या रानी रानी बनी। छठे हिरण्मय ने श्यामा को सहधर्मिणी बनाया। सातवें कुरु ने नारी को अग्नि साक्षी करके पत्नी बनाया। आठवें भद्राश्च ने भद्रा के साथ भाँवर फेरीं, और नवमें केतुमाल से देववाति से, सबसे विधिवत् विवाह हो गये।"

राजा परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! नौओं यशस्वी भूपतियों का चरित्र मुझे सुनाइये।"

यह सुनकर भगवान् शुक बोले—"हे भरतर्षभ! यदि मैं सबका विस्तार के साथ चरित्र सुनाने लगूँ तो इसी में सब कथा पूरी हो जायगी। समय सात दिन का ही है अतः मैं इन सबका अत्यन्त ही संक्षेप में चरित्र सुनाऊँगा। पहिले महाराज नाभि का ही चरित्र सुनिये।

पिता के परलोक प्रयाण के अनन्तर महाराज नाभि जम्बू-द्वीप के नाभि वर्ष (भारतवर्ष) का धर्मपूर्वक शासन करने लगे। वे अपनी प्रजा को पुत्रवत् पालते थे। प्रजा का भी उनके प्रति अत्यधिक अनुराग था, उन्हें संसारी सभी भोग प्राप्त थे, किन्तु उन्हें एक ही दुख था, जिसके कारण वे सदा चिन्तित रहते थे। उनके कोई पुत्र नहीं था, जो उनके पीछे प्रजा का पालन करते हुए, पितरों को पिण्ड तथा पय प्रदान कर सके। सभी इच्छायें श्रीहरि के आराधना से पूरी हो सकती हैं, यही सोचकर उन्होंने यज्ञपति भगवान् विष्णु की वैदिक यज्ञों द्वारा आराधना की। कोई यह समझे कि भगवान् यज्ञों के भूखे हों या यज्ञों के द्वारा उन्हें कोई विवश करके जो चाहे सो करा ले, सो बात नहीं है। संसार में सबसे प्यारा धन होता है। उस धन को जो श्रद्धा सहित सत्कार्य में लगाता है, तो उसके विशुद्ध भक्ति से प्रभावित होकर

भगवान् उसके ऊपर अनुग्रह करते हैं। वे यज्ञ वश्य नहीं हैं भक्तिवश्य हैं। वे द्रव्य, देश, काल, मन्त्र, ऋत्विक, दक्षिणा और विधिरूप सप्त अङ्ग वाले श्रद्धाहीन बड़े-बड़े यज्ञों से प्राप्त नहीं हो सकते। यदि भक्तिभाव से श्रद्धापूर्वक कोई उन्हें एक चुल्लू जल ही अर्पण करदें तो उसके सम्मुख प्रगट हो जाते हैं। इसीलिये भगवान् को भक्तवत्सल कहते हैं। महाराज नाभि परम भक्ति भाव से यज्ञ कर रहे थे। यज्ञ में लगे हुए वे निरन्तर यज्ञपति का ही चिन्तन करते रहते थे। उसी महायज्ञ में "प्रवर्ग्य" नामक कर्म के अनुष्ठान के समय भक्तवत्सल भगवान् साकार रूप से प्रगट हो गये। उस समय उनकी अति सुन्दर मनोहर मूर्ति मन और नयनों को अत्यन्त ही आह्लाद प्रदान करने वाली थी। उनके सभी अङ्ग सुन्दर सुकोमल सुडौल और सुहावने थे। चारों भुजाओं में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म ये प्रियतम आयुध शोभायमान थे। वक्षस्थल में मन मोहक श्रीवत्स का लांछन शोभा दे रहा था, गले में वन माला, हार और कौस्तुभ मणि चमक रही थी। माथे पर मुकुट, कानों में कुंडल कटि में करधनी और कटि सूत्र, करों में केयूर और चरणों में नूपुर रुनझुन करके बज रहे थे।

अपने यज्ञ में सहसा यज्ञपति को प्रगट हुआ देखकर सभी ऋत्विक, होता, उद्गाता, सभ्य, सदस्य, यजमानी तथा यजमान उसी प्रकार परम प्रमुदित हुए जैसे पिपासित पुरुष पानी को देखकर बुभुक्षित भोजन को देखकर, शीतार्त अग्नि को देखकर, कामी कामिनी को देखकर, कृपण धन देखकर, यात्री यान में स्थान देखकर, सम्वाददाता तीव्रतर विचित्र घटना को देखकर, बन्दो मिलाई के पत्र को देखकर, परीक्षा दिया हुआ छात्र उत्तीर्ण की श्रेणी में अपना नाम देखकर, अपुत्री किसी भी प्रकार घर में पुत्र उत्पन्न हुआ देखकर, तथा निर्धन पुरुष द्रव्य की राशि को

देखकर प्रसन्न हो जाते हैं। यजमान ने श्रद्धा से सिर झुकाकर सर्वेश्वर को सभी सामग्रियों से विधिवत् पूजा की।

पूजा के अनन्तर समस्त ऋत्विक्गण नाना स्तोत्रों द्वारा परम पुरुष प्रभु की स्तुति करने लगे—"ऋत्विकों ने कहा—"प्रभो! आप तो परम पूजनीय हैं। हम आपके अनुगत भक्त हैं। हमें आपके अनुरूप श्रद्धा भक्ति सहित आपकी पूजा करनी चाहिये। किन्तु आप जितने श्रेष्ठ हैं उतनी श्रेष्ठ सामग्रियाँ हम कहाँ से लावें? पूजा का वैसा विधि विधान कैसे बनावें अतः हम तो केवल श्रद्धा सहित आपके पुनीत पादपद्मों में पुनः-पुनः प्रणाम मात्र ही किये लेते हैं।"

भगवान् यह सुनकर हँस पड़े और बोले—"क्यों ब्राह्मणो! दूर से डंडौत करके ही भागना चाहते हो, कुछ धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, पुङ्गीफल दक्षिणा यह भी तो होनी चाहिये।"

ऋत्विजों ने कहा—"हे पूज्यतम! अब इन प्राकृतिक पदार्थों से आपको पूजें भी तो यह भी हास्यास्पद ही बात होगी, क्योंकि आप तो प्रकृति से परे हैं। अच्छा पूजा न करके आपके मंगलमय दिव्य गुणों का गान ही करें, सोभी नहीं कर सकते।"

भगवान् ने कहा—"सो क्यों, अरे भैया! जीभ तुम्हारे घर की है गुण गान करने में क्या लगता है?"

ऋत्विजों ने कहा—"महाराज! लगता तो कुछ नहीं किन्तु न होगा; क्योंकि आप तो प्राकृत से रहित प्रकृति पुरुष से परे परमेश्वर हैं और हमारी बुद्धि फँसी हुई है प्राकृति जन्य गुणों के कार्य रूप प्रपञ्च में उनमें बुद्धि मायिक पदार्थ का ही वर्णन करेगी। प्रपञ्च से ही सर्वपृथक माया से रहित आप मायापति का हमारी प्राकृतिक लौकिकी बुद्धि आपके गुणगान में समर्थ कैसे हो सकती है? प्राकृत रूप रहित आप परमेश्वर के सत स्वरूप तथा दिव्य नाम रूपों का निरूपण कैसे कर सकती है?"

भगवान् ने कहा—"मेरे भक्त वत्सलता के गुण जगत् में विख्यात हैं, उन्हीं का वर्णन कर सकते हो ?"

ऋषियों ने कहा—"भगवन् ! यह ठीक है, आपके कुछ कर्म विदित हैं, किन्तु आपके इतने ही गुण हों सो बात नहीं, समुद्र की एक बिन्दु भी समुद्र के समान ही गुणवाली है किन्तु वह बिन्दु समुद्र के एक देश में विद्यमान है। इस प्रकार हम जो भी कुछ आपके गुणों का वर्णन करेंगे वह सिन्धु की बिन्दु के समान एक देशीय ही होगा। इतनी असमर्थता होने पर भी आप भक्तों के ऊपर कृपा करके उनकी टूटी फूटी वाणी में की हुई स्तुति से ही प्रसन्न हो जाते हैं। समुद्र के समान सभी रत्नराशि के स्वामी होने पर भी आप श्रद्धा से दिये हुए एक चुल्लू जल से, एक पत्र तुलसी दल से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"ब्राह्मणो ! आप सब तो वेदज्ञ हैं, वैदिक विधि विधान के ज्ञाता हैं। नाना प्रकार की सामग्रियों से शास्त्रीय पद्धति से मेरा यजन कर रहे हैं ? आप सबकी पूजा तो महान् है।"

ऋत्विजों ने कहा—"भगवन् आपके लिये क्या महान् है। आप तो स्वयं परमानन्द स्वरूप हैं। सभी पुरुषार्थों के दाता अभिन्न भाव से आप ही हैं। आपको तो स्पृहा ही नहीं। किन्तु हम प्राकृत पुरुषों के हृदयों में तो नाना वासनायें भरी हुई हैं। इसीलिये हम सकाम भाव से आपकी पूजा करते हैं, इच्छा पूर्ति के लिये आराधना करते हैं। आप भी ऐसे दया के सागर हैं, कि हमारे क्षुद्रता, कामना आदि दोषों की ओर दृष्टि न डालकर दया-वश दौड़े चले आते हैं। मोक्ष दाता होने पर भी तुच्छ सांसारिक पदार्थों को देने के लिये आप हमारे सम्मुख प्रगट हुए हैं। अब हम क्या कहें।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, मुझसे अपनी इच्छानुसार वरदान माँगो।"

ऋत्विजों ने कहा—"हे प्रभो जब आप समस्त पुरुषार्थों के स्वामी स्वयं ही हमारे सम्मुख प्रकट हो गये, आपके दर्शन प्राप्त हो गये तब फिर और कुछ माँगने को शेष ही नहीं रह जाता फिर भी ....."

भगवान् बोले—"फिर भी क्या ? स्पष्ट कहो।"

ऋत्विज बोले—"क्या कहें भगवन् ! हमारी हार्दिक इच्छा तो यही है, कि कहीं ठोकर खाकर गिर पड़ें, वर्षा में कीचड़ में फिसल जायँ, भूख से व्याकुल हो जायँ, प्यास से बेसुध हो जायँ, आलस्य में भरकर जमुहाई लेने लगें तथा भाँति-भाँति के संकटों में फँसकर दुखी हो जायँ तो भी सकल मल विनाशक भक्तवत्सल अशरण शरण दीनबन्धु आपके सुमधुर नामों का उच्चारण करते रहें। हमारी जिह्वा से आपका मङ्गलमय नाम न हटने पावे। हम प्राकृत पुरुषों की तो बात ही क्या है, राग द्वेषादि मलों से रहित आपके ही समान गुण वाले आत्माराम मुनि भी आपके गुणों का गान करते रहते हैं। आपके रूप का चिन्तन करते रहते हैं और आपके नामों का उच्चारण करते रहते हैं। इस इच्छा की पूर्ति हो जाय, तब तो फिर कोई और इच्छा ही शेष न रहे।"

भगवान् मुस्कराये और बोले—"आप लोग संकोच न करें, अपना यथार्थ अभिप्राय जतावें, अपने मनोगत भाव बतावें।"

ऋत्विकगण बोले—"क्या बतावें, महाराज ! हमें तो बड़ी लज्जा लगती है। इतने बड़े महान् से एक क्षुद्र वस्तु की याचना कैसे करें सम्राट को प्रसन्न किया, उसने कृपा करके वरदान माँगने को कहा, तो उससे यही माँगा कि हमें बड़ी भूख लगी है आपके खाने के आज के आटे में जितनी भूसी निकली हो उसे हमें दे

दें।" तो ऐसे माँगने वाले को बुद्धिमान कौन बतावेगा ? फिर भी अर्थी तो दोष को देखता नहीं। ये राजर्षि नाभि पुत्र हीन हैं। यद्यपि आप स्वर्ग अपवर्ग आदि समस्त कामनाओं को देने में समर्थ हैं तो भी ये महाराज आपसे आपके ही समान एक पुत्र चाहते हैं। पुत्र की इच्छा रखकर ही ये आपका सकाम पूजन कर रहे हैं। पुत्र भी ये साधारण नहीं चाहते आप जैसा ही हो।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"तब तुम इतनी घुमा फिराकर बातें क्यों कर रहे थे। इसमें संकोच की कौन-सी बात है, मैं तो सब कुछ देने में समर्थ ही हूँ।"

ऋत्विजों ने कहा—"हाँ, भगवन्! आप सर्व समर्थ तो हैं ही, फिर भी यह लज्जा का तो विषय है ही विषय रूपी विषय वेग से जिसका स्वभाव दूषित हो गया है ऐसे सकाम मन्द बुद्धि पुरुष तुच्छ सांसारिक वासनाओं के वशीभूत होकर आपका यजन करें और आपको उनकी इच्छा पूर्ति के लिये आना पड़े। इस प्रकार क्षुद्र कामना के लिये आपका आवाहन करना आपका घोर अपमान करना है। हमने ऐसी इच्छा से पूजन करके जो आपका अनादर किया। इसे आप अपनी कृपावश क्षमा कर दें और इन राजर्षि की इच्छा को पूरी कर दें।"

भगवान् ने कहा—"ब्राह्मणो! तुम बड़े चतुर हो इधर-उधर की मीठी-मीठी बातें बनाकर मुझसे ऐसा वरदान माँग लिया, कि मुझे भी चक्कर में फँसना पड़े। मेरे समान १०-२० होते तो उनमें से एक को राजर्षि नाभि का पुत्र बना देता, किन्तु मैं तो अपने अनुरूप आप ही हूँ, मेरे समान दूसरा तो कोई है ही नहीं। मैं ही स्वयं आकर इन राजर्षि का पुत्र बनूँगा। अब आप ब्राह्मणों ने जो कह दिया वह पत्थर की लकीर के समान अमिट हो गया। वह मिथ्या तो हो ही नहीं सकता।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान् के श्रीमुख से

ऐसे वचन सुनकर ऋत्विक सदस्य यजामन और यजमानी सभी के मुख कमल खिल गये। महारानी मेरुदेवी की प्रसन्नता का तो कुछ ठिकाना ही नहीं था। उसके गर्भ से स्वयं साक्षात् श्रीहरि उत्पन्न होंगे इससे बढ़कर प्रसन्नता की बात और क्या होगी। सभी बड़ी उत्सुकता से एक टक भाव से भगवान् की ओर निहार रहे थे, कि सहसा सबके देखते-ही-देखते भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये। सभी ने भूमि में सिर टेककर उस स्थल को प्रणाम किया। तदनन्तर बड़ी धूमधाम के साथ यज्ञ की पूर्णाहुति हुई। ब्राह्मणों को भोजन कराया गया, सभी को यथेष्ट दक्षिणा दी गई। ब्राह्मण गण राजा के सत्कार से सन्तुष्ट होकर उन्हें भाँति-भाँति के आशीर्वाद देते हुए अपने-अपने घरों को चले गये। इधर महारानी मेरुदेवी ने शुभ मुहूर्त में अपने पति राजर्षि नाभि के सकास से गर्भ धारण किया। महारानी का वह गर्भ शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के समान नित्य प्रति बढ़ने लगा।"

छप्पय

विनती करिके विप्र यज्ञ उद्देश बतायो।
प्रभु समान सुत होय भूप को भाव जतायो॥
हरि हँसि बोले—अरे विप्र क्यों जाल फँसाओ।
स्वामी सेवक करो पिता कूँ पुत्र बनाओ॥
अच्छा, हौं सुत बनूँगो, निज सम कहँ खोजत फिरूँ।
मोकूँ बाँधे भक्त ये, मुक्त सबनि कूँ हौं करूँ॥

भगवान् ऋषभदेवजी का चरित्र

[३१५]

को नु तत्कर्म राजर्षेर्नाभेरन्वाचरेत्पुमान् ।
अपत्यतामगाद्यस्य हरिः शुद्धेन कर्मणा ॥*

(श्रीभा० ५ स्क० ४ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

अन्तर्हित हरि भये राजरानी हुलसानी ।
गर्भवती पुनि भई मेरुदेवी पटरानी ॥
भये अवतरित ऋषभ त्याग की मग दरसावन ।
संन्यासी मुनि विमल दिगम्बर अतिसय पावन ॥
नाभि निरखि नय विनय युत, सुत जगपति जानत भये ।
प्रजा सचिव सम्मति समुझि, राज तिलक दे वन गये ॥

पुत्र की प्राप्ति ही पूर्व पुण्यों के महान फल के उदय से ही होती है। यदि पुत्र रूप में परमेश्वर ही पत्नी के पेट से पैदा हो कर प्रेम प्रदर्शित करे तो उस पिता के सौभाग्य की तुलना भला किससे की जा सकती है। कोटि-कोटि जन्मोंका जब सुकृत उदय होता है, तब श्रीहरि के दर्शन होते हैं। दर्शन होने के अनन्तर

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! उन राजर्षि महाराज नाभि के द्वारा किये हुए कर्मों का आचार कौन कर सकता है ? जिनके विशुद्ध कर्मों से सन्तुष्ट होकर स्वयं साक्षात् श्रीहरि जिनके पुत्र होकर प्रकट हुए।"

ही पुत्र बनकर अपने भक्त से तोतली वाणी में पिताजी-पिताजी कहकर पुकारे तो उस सुख की संसार में किससे समानता की जा सकती है ? ऐसे पुरुष संसार के माननीय पूजनीय अभिनन्दनीय और प्रातस्मरणीय समझे जाते हैं। यही सौभाग्य महाराज नाभि को प्राप्त हुआ। भगवान् ऋषभदेव के पिता होने से वे जगत् के वन्दनीय बन गये।

श्री शुकदेवजी कहते हैं "राजन् ! भगवान् के अंतर्हित होने के अनन्तर महाराज नाभि यज्ञ से निवृत्त होकर अपनी रानी मेरु देवी के साथ सुखपूर्वक सर्वसुखों को भोगते हुए आनन्दपूर्वक महलों में रहने लगे। कालान्तर में महारानी ने एक पुत्र रत्न को उत्पन्न किया। पिता ने पुत्र के जाति संस्कार आदि सभी वैदिक कर्म बड़े उत्साह के साथ किये। लक्षणों के ज्ञाता पुरुषों ने उनके श्री अंगों में वज्रअंकुश आदि बाह्य चिन्हों को देखकर तथा समता, उपशम, विवेक वैराग्य और ऐश्वर्य आदि महाविभूतियों को देखकर उन्हें साक्षात् भगवान् का अवतार जाना। उनके सुन्दर सुघड़ शरीर को देखकर भव्याकृति महतीकृति अनपायती श्री, तेज, बल, ऐश्वर्य, यश, वीर्य और शूरवीरता आदि महान् गुणों को देखकर पिता ने उनका नाम ऋषभ अर्थात् श्रेष्ठ रखा ! जिन्होंने अपनी इच्छा से ही मनुष्य शरीर धारण किया है ऐसे पुराण पुरुष पुरुषोत्तम को पृथ्वीपति नाभि अपना निजी पुत्र समझने लगे। वे उनके यथार्थ रूप को भूल गये। उन्हीं के माया विलास से भ्रान्तचित्त होकर वे जगत् के पालन कर्ता का प्रेम से पालन करने लगे। जगत् के पिता का पुत्रवत् लालन करने लगे। मेरा बेटा, मेरा पुत्र, मेरा राजा इस प्रकार मीठी वाणी से बार-बार कहकर उनके कमल के समान खिले मुख चूमने लगे। उन्होंने अनुभव किया जितना ही प्यार मैं अपने पुत्र को करता हूँ, उतना ही प्यार मेरे पुत्र से सभी प्रजा के जन

करते हैं। सबके सब उन्हें अपने पुत्रों तथा प्राणों से भी बढ़-कर मानते हैं। राजा ने देखा राव से लेकर रंक तक, सचिव से लेकर सिपाही तक, वेदज्ञ ब्राह्मण से लेकर चांडाल पर्यन्त सभी इन्हें नयनों के तारों के समान जानते-मानते और अनुराग करते हैं, तो उन्होंने ब्राह्मण और पुरोहित को बुलाकर "ऋषभदेव को राज्य सिंहासन पर बिठा दिया। उन्हें राज पाट सौंपकर महा-राज नाभि अपनी पत्नी मेरुदेवी के सहित तपोवन को चले गये। उत्तर दिशा में हिमालय के अनेकों शिखरों को पार करते हुए वे गन्धमादन पर्वत पर स्थित भगवान् नरनारायण के निवासस्थान बदरिकाश्रम में जाकर रहने लगे। वहाँ वे यम नियमों का पालन करते हुए भगवान् वासुदेव की आराधना में तत्पर होकर उन्हीं के रूप का चिन्तन करने लगे। कालक्रम से समय आने पर वे उन्हीं के स्वरूप में लीन हो गये।

अपने कन्धों पर राज्य भार देखकर भगवान् ऋषभ लोक विधि अनुकरण करके मनुष्य की-सी चेष्टायें करने लगे उन्होंने कुछ काल गुरुकुल में निवास करके वेद वेदाङ्गों का अध्ययन किया। गुरु शुश्रूषा करके गुरुशिष्य के सम्बन्ध की महत्ता का आदर्श उपस्थित किया। गुरुकुल के काल को विधिपूर्वक बिताकर गुरु को अन्तिम दक्षिणा देकर उन्होंने व्रतान्त स्नान किया। स्नातक होकर फिर उन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। देवराज इन्द्र ने उनके प्रभाव को जानकर उनके सम्मुख लज्जित होकर अपनी कन्या का विवाह उनके साथ कर दिया।

इस पर महाराज परीक्षित् बोले—"भगवान्! ऋषभदेवजी ने तो पार्थिव नरपतियों का वेष धारण किया था और इन्द्र तो समस्त देवताओं के तीनों लोकों के राजा हैं, फिर उन्होंने अपनी कन्या का विवाह श्रीऋषभदेवजी के साथ क्यों किया? देवलोक की कन्या मर्त्यलोक में क्यों विवाही गई?"

यह सुनकर श्रीशुक कहने लगे—"महाराज ! भगवान् ऋषभ तो समस्त लोकों के सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के अधिपति हैं उनके लिये जैसा ही भूलोक वैसा ही स्वर्गलोक, किन्तु इन्द्र तो अपने अमरपति के अभिमान में सदा मदोन्मत्त बने रहते हैं। जिस प्रकार वे ऋषियों को तपस्वियों को यहाँ तक कि स्वयं साक्षात् श्रीहरि को मूर्खतावश अपना प्रभाव दिखाने की चेष्टा करते हैं, वैसे ही भूल उन्होंने भगवान् ऋषभ के साथ की और मुँह की खाई।"

इतना सुनते ही उत्सुकता प्रकट करते हुए राजा परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो ! इन्द्र ने भगवान् ऋषभ को अपना प्रभाव कैसे दिखाया, कैसे उन्हें पराजित होना पड़ा। इस वृत्तान्त को सुनने की मेरी बड़ी इच्छा है, कृपा करके इसे विस्तार के साथ सुनाइये।"

राजा के ऐसे पूछने पर श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन् ! ऋषभदेवजी ने राजा होने पर प्रजा के सभी कार्यों की देखदेख करनी आरम्भ कर दी। उन्होंने सर्वत्र सुरक्षा का उचित प्रबन्ध कर दिया। उनकी राज्य व्यवस्था, शासन प्रणाली श्लाघनीय ही थी, अनुकरणीय तथा अभिनन्दनीय थी। प्रजा उन्हें पिता से भी अधिक प्यार करती। सभी उन्हें भगवान् की तरह मानते और पूजते थे। उनके आदर सत्कार को देखकर, प्रजा द्वारा इस प्रकार पूजित देखकर इन्द्र को बड़ी ईर्ष्या हुई। महाराज ! जो लोग सदा सम्मान और प्रतिष्ठा के ही लिये उत्सुक बने रहते हैं वे दूसरों की बढ़ती नहीं देख सकते। किसी की यश प्रतिष्ठा देखकर उन्हें अत्यधिक मानसिक संताप होता है। वे अपने से अधिक किसी को बढ़ने ही देना नहीं चाहते। इसीलिये इन्द्र ने सोचा—"मैं तो तीनों लोकों का राजा हूँ, सभी को जीवन दान देता हूँ, वर्षा करके सभी का भरण-पोषण करता हूँ, फिर भी लोग मेरा इतना आदर नहीं करते, मुझमें इतनी श्रद्धा नहीं

रखते। यह मर्त्यलोक के भूभाग का राजा इतना लोकप्रिय क्यों है, प्रजाजन इसे परमेश्वर करके क्यों पूजते हैं, अच्छी बात है, देखें इनके प्रभाव को। मैं इसके राज्य में वर्षा ही न करूँगा, फिर यह अपनी प्रजा का किस प्रकार पालन कर सकता है। राष्ट्र में दुर्भिक्ष शासक के पाप से पड़ता है। जब देश में दुर्भिक्ष पड़ेगा, तब समस्त जनता अप्रसन्न होकर राजा को बुरा भला कहेंगी। इसकी प्रतिष्ठा धूलि में मिल जायगी।" ऐसा सोचकर इन्द्र ने उनके राज्य में एक वर्ष तक जल नहीं बरसाया।

श्रीऋषभदेव समझ गये कि इन्द्र को अत्यधिक अभिमान हो गया है। उसे इस बात का घमण्ड है, कि मैं वर्षा न करूँगा, तो प्रजा का पालन ही न होगा। अच्छी बात है, यह अमर पति मेरे प्रभाव को देखे। यह सोचकर उन्होंने अपने योगबल से जल भरे बादलों की सृष्टि की और इतना जल बरसाया कि समस्त भूमि शस्य श्यामला बन गई। यह देखकर इन्द्र का मद उतरा, उसका अभिमान चूर-चूर हो गया। वह भगवान् ऋषभदेव के प्रभाव को समझ गया और उसने सबसे सुन्दरी अपनी जयन्ती नाम की पुत्री का विवाह भगवान् ऋषभदेव के साथ कर दिया। श्रीऋषभदेवजी ने उसे अपने अनुरूप समझ वैदिक विधि के साथ उसका पाणिग्रहण किया धर्मपूर्वक गृहस्थाश्रम के नियमों लोक मर्यादा के निमित्त पालन करने लगे। समय पाकर महारानी के जयन्ती के गर्भ से परम यशस्वी पिता के ही अनुरूप १०० पुत्र उत्पन्न हुए

यह सुनकर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! ऋषभदेव के वे १०० पुत्र किन-किन देशों के राजा हुए?"

इस पर श्रीशुक बोले—"कुरु वंशावतंस राजन्! महाराज ऋषभदेव के वीर्य से जो जयन्ती में १०० पुत्र हुए वे सबके सब जायन्तेय कहलाये। इन सबमें श्रेष्ठ थे भरतजी! वे इतने

प्रतापी हुए कि उन्हीं के नाम से यह अजनाभि खण्ड "भारत-वर्ष कहलाया जो अभी तक उसी नाम से प्रसिद्ध है। भरतजी से जो छोटे ९ थे उनके नाम कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक, विदर्भ और कीकट थे। ये सब भारतवर्ष के अन्तर्गत पृथक्-पृथक् देशों के राजा हुए। इनके देश इन्हीं के नामों से विख्यात हुए।"

इस प्रकार भरतजी और ९ ये दश हुए। शेष ९० बचे। जिनमें ९ भाइयों ने विवाह नहीं किया, वे ऊर्ध्वरेता बनकर मुनि व्रत धारण करके परिव्राजक बन गये। इसीलिये वे नव योगेश्वर कहाये। उनका सम्वाद आगे प्रसङ्गानुसार नारदजी और वसुदेव सम्वाद के अवसर पर वर्णन किया जायगा। अब शेष बचे ८१।

इन्होंने क्षत्रिय धर्म को हिंसा प्रधान समझकर उसका परि-त्याग कर दिया। वे सबके सब वेदज्ञ, कर्म कांडी, सदाचारी, मातृ-पितृ भक्त, विनीत, शान्त तथा महान् थे। वे सदा यज्ञयाग पूजापाठ तथा देवार्चन में ही लगे रहते थे। निरन्तर पुण्य कर्मों का ही अनुष्ठान करते रहने के कारण कर्मणा ब्राह्मण बन गये। उन्होंने किसी देश का राज्य स्वीकार नहीं किया। राजन्! इस प्रकार मैंने तुमसे अत्यन्त संक्षेप में भगवान् ऋषभदेव के १०० पुत्रों का वृत्तान्त सुना दिया, अब आप और आगे क्या पूछना चाहते हैं।"

उत्सुकता प्रकट करते हुए राजा ने कहा—"दीनबन्धो! आपने भगवान् ऋषभ के ज्येष्ठ पुत्र भरतजी की बड़ी प्रशंसा की है और वास्तव में वे प्रशंसनीय हैं भी जिनकी कीर्ति के कारण इस वर्ष (भूखंड) का नाम ही बदल गया। जिनकी कीर्ति अभी तक अक्षुण्ण बनी हुई है। मैं उन राजर्षि के चरित्र को विस्तार के साथ सुनना चाहता हूँ। कृपा करके मुझे भरत चरित्र सुनाइये।"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"राजन् यथार्थ में भरतजी का चरित्र अलौकिक है, वह सम्पूर्ण सिद्धियों और मोक्ष को भी देने वाला है।" भरत चरित सावधानी के साथ सुनने पर फिर मोह रहता ही नहीं। इतना कहकर श्रीशुकदेव महाराज को भरतजी का चरित्र सुनाने को उद्यत हुए।"

छप्पय

करिकें गुरुकुल वास राज को काज सम्हार्यो।
लई जयन्ती ब्याहि ससुर को मद संहार्यो॥
भये पुत्र सौ भरत ज्येष्ठ तिन में नौ ज्ञानी।
भूप भये नौ रचीं जाइ निज-निज रजधानी॥
इक्यासी हिंसा रहित, विप्रवृत्ति महँ रत रहें।
जप तप पूजा पाठ मख, करि समत्व सुख दुख सहें॥

श्रीऋषभदेवजी का अपने पुत्रों को उपदेश

[३१६]

नायं देहो देहभाजां नृलोके
कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां ये ।
तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वम्
शुद्ध्येद्यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम् ॥*

(श्री भा० ५ स्क० ५ अ० १ श्लो०)

छप्पय

करें ऋषभ शुभ कर्म हरषि लौकिक वैदिक सब ।
पुत्र भये जब युवक दई सत शिक्षा नृप तब ॥
इक दिन घूमत फिरत तृतीय सुत पुरमहँ आये ।
ब्रह्मावर्त निहारि पितहिँ सब बन्धु बुलाये ॥
सम्बोधन करि सबनिकूँ, प्रेम सहित सबतें कहहिँ ।
सुख हरि सुमिरन में सतत, विषय भोग नर दुख सहहिँ ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! ऋषभदेवजी ने अपने पुत्रों को उपदेश देते हुए कहा था—"पुत्रो, इस मर्त्यलोक में मानव देह पाकर मनुष्यों के लिए यह उचित नहीं है, कि दुखमय विषय भोगों में फँसा रहे, क्योंकि वैषयिक सुख तो विष्ठा खाने वाले शूकर, कूकरादिकों को भीसुलभता से प्राप्त हो जाते हैं । इसलिये हे पुत्रो ! मनुष्यों को तप का ही आचरण करना चाहिये, जिससे अन्तःकरण की शुद्धि हो और अनन्त सुख स्वरूप श्रीहरि की प्राप्ति हो सके ।"

नीतिकारों का कथन है, वैसे भगवन् और भगवदीय पुरुष समदर्शी और समभाव होते हैं, फिर जो श्रेष्ठ हैं, जिनमें अधिक अपनापन हो गया उनके प्रति गुणाधिक्य के कारण अथवा वात्सल्य के कारण पक्षपात होता ही है। बात यह है, कि जो अपने हैं उन्हें हम सर्वथा शुद्ध सदाचारी देखना चाहते हैं, हमारी हार्दिक कामना होती है कि ये सदा संसार में शाश्वती शान्ति का अनुभव करें। खाने पीने का लाड़ प्यार तो सामान्य है, सबसे बड़ा प्यार तो यही है, कि हम अपने आश्रितों को मृत्यु के मुख से बचावें, उन्हें विषयों में न फँसने दें। वे कभी भी परमार्थ से च्युत न हों इस बात का प्रयत्न करें।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज ऋषभदेव ने अपने सभी पुत्रों को उत्कृष्ट पारमार्थिक उपदेश दिया। उन्होंने अपने पुत्रों के सम्मुख जो गूढ़ातिगूढ़ मर्म प्रदर्शित किया, उसे जो भी पुरुष श्रद्धाभक्ति सहित श्रवण कर ले उसका संसार बंधन अवश्य छिन्न-भिन्न हो जायगा।"

महाराज परीक्षित् ने कहा—"गुरुदेव! जब ऋषभदेव स्वयं भगवान् के अवतार ही थे, तो उन्हें गृहस्थाश्रम में फँसने की क्या आवश्यकता थी। यह मेरे पुत्र है, यह मेरे अन्य हैं, ऐसा भेद-भाव उन्होंने क्यों किया? फिर इन सकाम कर्मों का आचरण अज्ञान के बिना हो नहीं सकता, उन्हें किस लोक की प्राप्ति की इच्छा थी जो इतने बड़े यज्ञ यागों में निमग्न रहकर कर्मकाण्ड के चक्कर में फँसे रहते थे?"

इस पर हँसते हुए शुकदेवजी बोले—"राजन्! आपका कहना यथार्थ है, उन्हें कर्म करने की स्वयं को भी आवश्यकता नहीं। वे तो स्वभाव से नित्य ही अनर्थ परम्परा से रहित केवल आनन्दानुभव स्वरूप सर्वस्वतन्त्र साक्षात् ईश्वर ही थे, फिर भी उन्हें अज्ञानियों के उद्धार का भी तो ध्यान था। जीव

पेट में से ही तो सब सीख कहीं नहीं लेता। अपने बड़ों को, श्रेष्ठ पुरुषों को जो भी कुछ करते देखते हैं, उसी का आचरण साधारण लोग किया करते हैं। लोग धर्म से रहित होकर विषयों में फँस जायँ, तो सदा चौरासी के चक्कर में टक्कर मारते फिरें। काम भोग करना हो, तो धर्मपूर्वक करें, इसीलिये प्राचीन ऋषियों ने निवृत्ति मार्ग को प्रवृत्त किया है। जिनके करने से चित्त शनैः-शनैः कर्मों से हटकर नैष्कर्म्य की ओर जाय। इसीलिये कालक्रम से नष्ट हुए उस प्रवृत्ति मार्ग के पुनरुज्जीवित करने के निमित्त सबमें समभाव रख कर, शान्त सुहृद् और कारुणिक रहकर, अपने सभी आश्रितों को गृहस्थाश्रम की शिक्षा दी और स्वयं भी धर्मपूर्वक गृहस्थ सुख का उपभोग करते हुए, उसमें आसक्त से प्रतीत होने पर अनासक्त बने रहे। राजन्! यह बात है, कि संसार में दो ही आनन्द हैं एक तो ब्रह्मानन्द दूसरा विषयानन्द। ब्रह्मानन्द की प्राप्ति तो त्याग वैराग्य द्वारा किसी विरले को ही होती है, किन्तु विषयों का भोग यदि धर्म को परित्याग करके न किया जाय, नित्य ही धन की प्राप्ति में, शरीर की आरोग्यता में, पुत्र पौत्रों के साथ बैठकर किल्लोल करने में, सहधर्मिणी के धार्मिक कृत्य करने में उसके साथ मीठी-मीठी बातें करने में, परोपकार को कार्य करके यश और कीर्ति लाभ करने में जो आनन्द मिलता है, उससे शरीर के रोम-रोम विकसित हो जाते हैं, चित्त प्रसन्न हो जाता है। उस सुख का ये जटाजूट वाले रंगीन कपड़े धारण किये बाबाजी भला कैसे अनुभव कर सकते हैं? और अज्ञानियों के लिये ये सब सुख सब कुछ हैं। इसलिये उन्होंने गृहस्थ धर्म को स्वयं स्वीकार किया।

उन्होंने ईश्वर होने पर भी मर्यादा पूर्वक राज्यशासन किया। उनके राज्य में सभी सुखी थे, किसी को किसी वस्तु की कमी नहीं थी। प्रजाजन यह तो चाहते थे हमारा नित्य ही

अपने स्वामी के प्रति अत्यधिक अनुराग बढ़ता रहे, इसके अतिरिक्त वे अन्य किसी वस्तु की अभिलाषा नहीं करते थे। लोक मर्यादा रक्षण के निमित्त स्वयं सर्वज्ञ होते हुए भी वेद के गूढ़ रहस्य रूप सम्पूर्ण धर्मों को जानते हुए भी सभी कार्य श्रेष्ठ ब्राह्मणों से पूछ-पूछ कर ही किया करते थे। साम, दाम, दण्ड, भेद आदि नीतियों का प्रयोग कहाँ किस अवसर पर कैसे करना चाहिये। इसके लिये वे पहिले मन्त्रियों से सम्मति ले लेते थे।

स्वयं वे सभी देवताओं के अधिपति सबके ईश्वर थे, फिर भी लोक संग्रह के निमित्त देवताओं के उद्देश्य से द्रव्य, देश, काल, वायु, श्रद्धा, ऋत्विक तथा सदस्य आदि से समृद्धि को प्राप्त होने वाले यज्ञ यागो को बड़ी श्रद्धा भक्ति के साथ शास्त्रोक्त विधि से सम्पन्न करते थे और उनके द्वारा पुराण पुरुष यज्ञेश का आराधन किया करते थे।

एक बार की बात है, कि वे पर्यटन करते हुए अपने वर्ष के समस्त देशों को देखते हुए गङ्गा यमुना के मध्य के उस परम पावन पुण्य प्रदेश में पहुँचे जो पृथ्वी सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है, नित्य ही ब्रह्मर्षियों के निवास के कारण जिसे ब्रह्मर्षि देश भी कहते हैं जिस देश के अधिपति उनके तृतीय पुत्र ब्रह्मावर्त थे और उन्हीं के नाम से यह देश ब्रह्मावर्त कहलाने लगा था वहाँ पहुँचे।

वहाँ पहुँचकर उन्होने क्या देखा, कि बड़े-बड़े ब्रह्मर्षियों का समूह वहाँ विराजमान है, उनके सभी सुशील विनीत पुत्र भी वहाँ बैठे हैं। इस अवसर को भगवान् ऋषभ ने बहुत ही उत्तम समझा, इसलिये अपने पुत्रों को लक्ष करके उनके उपदेश के व्याज से सभी को उपदेश देने लगे।

जब वे समाहित चित्त से बैठ गये और अपने पुत्रों द्वारा

विधिवत् सत्कृत हो चुके तब सभी पुत्रों को सम्बोधित करते हुए कहने लगे—'पुत्रो! तुम सब लोग यहाँ इन इतने बड़े-बड़े ब्रह्मर्षियों के बीच क्यों बैठे हो?"

उनमें से हाथ जोड़कर विनीत भाव से भरतजी ने कहा—"पिताजी! हम इन ब्रह्मर्षियों से यही जिज्ञासा कर रहे हैं, कि हम सबको ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कैसे हो? कृपा करके आप भी हमें इस सम्बन्ध में कुछ उपदेश करें।"

ऋषभदेवजी ने कहा—"मैं इन महर्षियों के सम्मुख कह ही क्या सकता हूँ, किन्तु इतना अवश्य जानता हूँ कि मनुष्य देह पाकर इन सांसारिक तुच्छ विषय भोगों में ही फँसे रहना उचित नहीं है। देखो, संसार में ५ ही प्रकार के सुख हैं, देखने का सुख, सुनने का सुख, सूँघने का सुख, जिह्वा का सुख और स्पर्शेन्द्रिय का समागम का सुख। यदि इन सुखों को पाना ही पुरुषार्थ है, तब तो शूकर कूकर काक आदि विष्ठा खाने वाले भी सुखी हैं। क्योंकि जो सुख तुम्हें लड्डू, पेड़ा, रबड़ी खाने में आता है, वही सुख उन्हें विष्ठा खाने में आता है। जिस विषय सुख का अनुभव पुरुष स्त्री के द्वारा, स्त्री पुरुष के द्वारा प्राप्त करती है वही कूकर को कूकरी के साथ शूकर को शूकरी के साथ और काक को काकी के साथ मिलता है। इससे सिद्ध होता है, विषयों के सेवन से ब्रह्मानन्द की प्राप्ति नहीं होती। उसकी प्राप्ति तो विशुद्ध अन्तःकरण वालों को ही होती है और अन्तःकरण शुद्ध होता है तपस्या से। इसलिये निरन्तर तपस्या में ही लगे रहना चाहिये। शुद्ध अन्तःकरण वाला तपस्वी ही मोक्ष का अधिकारी होता है।"

इस पर ऋषभदेवजी के एक पुत्र ने पूछा—"पिताजी! मोक्ष प्राप्ति का क्या साधन है? किस काम के करने से मोक्ष प्राप्त हो?"

बड़ी दृढ़ता के साथ ऋषभदेवजी कहा—'देखो, भैया! मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र उपाय है, महापुरुषों की श्रद्धा सहित सेवा करना। भगवद् भक्तों के धन श्रीहरि हैं। जैसे कंजूस अपने धन को अत्यन्त सुरक्षित छिपाकर रखता है, वैसे ही भगवद् भक्त महापुरुष भगवान् को अपने हृदय में छिपाये रहते हैं। कैसा भी हृदयहीन पुरुष क्यों न हो, सेवा से वह भी वश में हो जाता है। फिर महापुरुष तो बड़े कृतज्ञ, गुणग्राही और परोपकारी होते हैं, जो मान पूर्वक श्रद्धा से, निष्कपट होकर, छल छिद्र से रहित होकर उनकी सेवा करता है, तो वे उस सेवक को अपने हृदय धन सर्वस्व श्रीहरि को दे डालते हैं, अपना-सा बना लेते हैं। पारस तो लोहे को सोना ही बनाता है, किन्तु भगवद् भक्त महापुरुष अपने सेवक को पारस ही बना लेते हैं अतः संत संग ही मोक्ष का मार्ग है।"

दूसरे ने पूछा—"पिताजी! साधुओं के लक्षण क्या हैं, किन चिन्हों से हम समझें कि ये साधु हैं। वैसे तो बहुत से असाधु पुरुष साधुओं का-सा वेष बनाये रहते हैं। उनका संग करने से तो मोक्ष नहीं मिल सकता।"

इस पर ऋषभदेवजी ने कहा—"देखो, भैया! बाहरी लक्षणों से साधु नहीं पहिचाने जाते। साधुओं की पहिचान अत्यन्त कठिन है। साधु तो साधु की कृपा से जाने जाते हैं जिसे कृपा करके वे जना दें जिसके सामने भी अपना रूप प्रकट कर दें। फिर भी साधुओं के कुछ लक्षण बताता हूँ साधु पुरुष समान चित्त वाले होते हैं, उनका स्वभाव सर्वथा शान्त होता है, वे कभी किसी पर मन से क्रोध नहीं करते, सभी को स्वभाव के वशीभूत समझकर क्षमा करते रहते हैं। वे कभी सदाचार से च्युत नहीं होते, सदा श्रेष्ठ पथ का अनुसरण करते रहते हैं। वे सबके सच्चे सुहृद, अकारण बन्धु, परोपकारी तथा सदाचार

सम्पन्न होते हैं। भगवान् ही उनके सर्वस्व होते हैं। उन्हीं के प्रेम में निरन्तर तन्मय बने रहते हैं। लोगों के समान वे पेटू नहीं होते, रसना को वे सदा जीते रहते हैं। स्त्री, पुत्र, धन, विषय भोग सम्बन्धी सामग्रियों से सम्पन्न घरों में इनकी आसक्ति नहीं होती, वे केवल निर्वाह के निमित्त तथा परोपकार के लिये ही लौकिक कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। ऐसे पुरुष ही महापुरुष हैं। उन्हें ही साधु कहा गया है, उनके संग से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यह सुनकर किसी दूसरे ने पूछा—"पिताजी! संसार में सब से अधिक फँसाने वाली वस्तु कौन-सी है?"

इस पर ऋषभदेवजी ने कहा—"सबसे अधिक संसार में जकड़ने वाली वस्तु है चरित्र हीन पुरुषों का संग। जो स्त्री चरित्र भ्रष्ट होती है, वह दूसरी स्त्रियों को भी चरित्रहीन बना देती है, इसी प्रकार चरित्रहीन पुरुषों का संग करने से दूसरे उसके साथी भी चरित्रहीन हो जाते हैं। जैसी संगति करोगे वैसा ही प्रभाव पड़ेगा। जो खाओगे वैसे ही उद्गार निकलेंगे। सफेद वस्त्र को जिस रङ्ग के पानी में डालोगे वैसे ही रङ्ग उस पर चढ़ जायगा। इसीलिये मोक्ष मार्ग के पथिको को सदा स्त्रीलम्पट विषयी पुरुषों के संग से दूर ही रहना चाहिये।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव ने अनेक युक्तियों, दृष्टान्तों और कथाओं के द्वारा अपने पुत्रों को भाँति-भाँति के उपदेश दिये। उन्हें पहिले संसार की असारता बताई, फिर मनुष्य शरीर का महत्व बताया, जीव का परम पुरुषार्थ समझाया। कौन प्राणी किससे श्रेष्ठ है यह तारतम्य बताकर ब्राह्मणों को सर्व श्रेष्ठ सिद्ध किया। अपने पुत्रों को आदेश दिया, कि वे सब कार्य बुद्धिमान सदाचारी, धर्म प्राण ब्राह्मणों की सम्मति लेकर ही किया करें। सबसे अन्त में

उन्होंने कहा—"मेरे पुत्रो! तुम इस चराचर विश्व को श्रीहरि का ही स्वरूप समझकर प्राणी मात्र में मेरी भाँति पूज्य बुद्धि रखकर सभी की श्रद्धा पूर्वक सर्वदा सेवा करते रहो। प्राणीमात्र की पूजा करना ही मेरी सबसे बड़ी पूजा है। मनसा वाचा कर्मणा सर्व भाव से उन भक्तवत्सल भगवान् को ही सबमें समान भाव से व्याप्त समझकर प्रणाम करो नमस्कार करो, तभी तुम इस महामोह से छूट सकोगे।" इस प्रकार अपने उन सदाचारी योग्य पुत्रों को भली भाँति शिक्षा देकर सबके सन्देहों को दूर किया।"

छप्पय

विषय भोगि के कबहुँ कोउ नर सुख नहिँ पावै।
ज्यौं नर जीवन रत्न काँच दे व्यर्थ गमावै॥
सुख स्वरूप सर्वेश सतत हिय माँहिँ विराजैं।
कस्तूरी मृग यथा विषय वन खोजे भाजे॥
विषयी नर हैं विष सरिस, मोक्ष मूल हैं संत जन।
चढ़े रंग जस होहि सङ्ग, स्वेत वसन सम कह्यो मन॥

भगवान् ऋषभदेव की अवधूत वृत्ति

[२१७]

अहो नु वंशो यशसावदातः
प्रैयव्रतो यत्र पुमान् पुराणः ।
कृतावतारः पुरुषः स आद्य-
श्चचार धर्मं यदकर्महेतुम् ॥ *
(श्री भा० ५ स्क० ६ अ० १४ श्लोक०)

छप्पय

ऋषभ चरित अति गूढ़ मूढ़ नर मर्म न जानें ।
निरखि नग्न उन्मत्त सिड़ी पागल सब मानें ॥
प्रगट्यो पारमहंस्य धर्म करि शिक्षा दीन्हीं ।
कर्‌यो दिगम्बर वेष वेद विधि पूरी कीन्हीं ॥
बालक सम भोले बने, पृथ्वी पै बिचरत फिरहिँ ।
मारें पीटें दुष्ट जन, सुख दुख महँ इक सम रहहिँ ॥

सुख हो दुख हो, मान हो अपमान हो, सत्कार हो तिरस्कार हो, जब तक शरीर का भान है, तब तक इनका भान होता ही है । द्वन्द्वों में जब तक साम्यबुद्धि नहीं होती, तब तक कैवल्य पद की

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज प्रियव्रत का विशुद्ध यशस्वी वंश धन्य है जिसमें सबके आदि पुराण पुरुष श्रीमन्नारायण ने यह ऋषभावतार लेकर परमहंस धर्म का आचरण किया जो कि मोक्ष मार्ग का द्वार है ।"

प्राप्ति असम्भव है, अशक्य है। ज्ञान दृष्टि से देखा जाय तो मल और चन्दन में अन्तर ही क्या है ? मल भी व्यक्ति का विकार है और चन्दन भी। सुगन्ध दुर्गन्ध की कल्पना हमने स्वतः करली है। यों ज्ञान दृष्टि से तो हम कह देते हैं, अजी सबमें वे ही श्रीहरि रम रहे हैं जगत् उन्हीं का रूप है, किन्तु हमारे गले में जब प्रमदा की सुखस्पर्शिनी बाहु पड़ती है तब तो मारे प्रसन्नता के हमारा रोम-रोम खिल पड़ता है, शरीर के समस्त रोयें खड़े हो जाते हैं। किन्तु यदि कोई गुलगुले साँप को गले में डाल दे तो हम मारे भय के थर-थर काँपने लगेंगे। हमारा समस्त ज्ञान ध्यान न जाने कहाँ भाग जायगा, हम उसे गले से फेंक कर भागेंगे। वास्तव में देखा जाय तो प्रमदा की बाहु में और सर्प में कोई भेद नहीं। दोनों ही पञ्चभूतों के बने हैं, दोनों में चैतन्य सत्ता व्याप्त है। दोनों ही सच्चिदानन्द के स्वरूप हैं, किन्तु जब तक निर्भय पद की पूर्णरीत्या प्राप्ति नहीं हुई है, जब तक शरीर के रहते हुए ही जीवन्मुक्तावस्था में स्थिति नहीं हुई है, तब तक भेदभाव रहेगा ही और भेदभाव ही बन्धन है। वही हमें संसारी विविध लोकों में घुमाता रहता है ! यह भेदभाव बिना परमहंस वृत्ति धारण किये मिट नहीं सकता। यही अन्तिम स्थिति है यही परागति है यही पराकाष्ठा है।

महाराज परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो ! भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को शिक्षा देने के अनन्तर क्या किया ? उन्होंने किस आश्रम का पालन किया ?"

इस पर श्रीशुकदेवजी कहने लगे—"राजन् ! भगवान् ऋषभदेव इस अनर्थ परम्परागत जगत् को मिथ्या समझकर अपने सबसे बड़े पुत्र भरत को चक्रवर्ति पद पर प्रतिष्ठित करके शेष सभी भाइयों को अनेक अधीन राजा बनाकर वन को चले गये। उन्होंने घर पर रहकर ही आवहनीयादि सम्पूर्ण अग्नियों

को अपने आप में ही स्थापित कर लिया वे निरग्नि हो गये। ज्ञान होने से उन्होंने अग्निहोत्र का भी त्याग कर दिया। यह कहना भी असंगत है, कि ज्ञान होने पर उन्होंने ऐसा किया उन्हें तो कभी अज्ञान ने स्पर्श ही नहीं किया वे तो सदा सर्वदा ज्ञान स्वरूप ही थे, किन्तु लौकिक दृष्टि से प्राणियों को शिक्षा देने के निमित्त पारमहंस्य धर्म की श्रेष्ठता स्थापित करने के लिये उन्होंने महामुनियों द्वारा अनुमोदित और पूजित भक्ति ज्ञान और वैराग्य रूप चरम आश्रम की महत्ता दिखाने के निमित्त उन्मत्तों का-सा वेष धारण कर लिया। उनके भीतर ज्ञान की ज्योति जल रही थी तो भी ऊपर से अज्ञानियों के समान आचरण कर लिये। उन्होंने सभी बाहर के कपड़े उतार कर फेंक दिये, पागल और पिशाचों की भाँति केश खोले नङ्ग धड़ंगे इधर से उधर बिना किसी लक्ष्य के घूमने लगे।

अपने देश ब्रह्मावर्त से निकल कर उनका मुख जिधर ही उठ गया उधर ही चल दिये। बुद्धि का भण्डार होने पर भी वे बुद्धि-हीन मूर्खों के समान हो गये। दिव्य दृष्टि रहने पर भी अन्धों के समान वे वृक्षों से टकराने लगे। दिव्य वाणी रहने पर भी बार-बार बुलाने पर नहीं बोलते। लोग समझते यह गूँगा है। पीछे से लोग बुलाते, ढोल बजाते हों हा हा हू हू करते किन्तु ये फिर कर पीछे भी नहीं देखते थे। इसीलिये लोग समझते यह बहरा भी है। बाल खुले हैं, शरीर धूलि से धूसरित है, अङ्गों में तिनके चिपटे हैं, ये हाथ हिलाये दौड़े जा रहे हैं। पिशाच और उन्मत्त के समान वेष देखकर कुत्ते भोंक रहे हैं लड़के तालियाँ बजा रहे हैं, किन्तु ये चुपचाप मौनव्रत धारण किये अपनी धुनि में मस्त हुए सिंह के समान चले जा रहे हैं। कभी किसी पुर में ही पहुँच गये, कभी किसी ग्राम में ही रम गये। किसी सोने चाँदी राँगा शीशा गेरू कोयला आदि की खानों में ही जाकर खदान वाले

लोगों में ही हिलमिल गये। कभी किसानों के खेतों में ही पड़ गये, कभी काछी माली और वारियों की बाड़ियों में से ही खरबूजे खाने लगे, कभी पर्वतों के समीप के ग्रामों में ही घूमने लगें, कभी सेनाओं की छावनियों में चले गये। वहाँ सैनिक लोग छेड़छाड़ करने लगे, इन्हें पकड़कर विविध प्रश्न पूछने लगे। कोई गुप्तचर समझने लगे कोई सिद्ध पुरुष बताने लगे। इन्हें न हर्ष, न शोक। पकड़ लिया तो बैठे हैं छोड़ दिया तो चल दिये। कभी गाँव के बाहर गौशालाओं के बछड़े के बीच ही जाकर सो गये। बछड़ों से बातें करने लगे। कभी अहीर ग्वालों के घरों में जाकर मक्खन खाने लगे मट्ठा पीने लगे, महेरी सपोटने लगे। मोटी-मोटी रोटियों को उड़ाने लगे। कभी झुण्ड के झुण्ड जाते हुए यात्रियों के सङ्ग चल दिये तो महीनों उनके साथ ही चले जा रहे हैं, फिर लौटे तो लौट दिये। उत्तर की ओर जा रहे हैं दक्षिण को मुड़ पड़े तो उधर ही चल दिये। कभी पहाड़ों की चोटियों पर ही चढ़ गये, किसी पाषाण खण्ड के ऊपर पड़ गये। कभी बड़े-बड़े गहन वनों में विचरण करने लगे कभी-कभी ज्ञानी महात्माओं के आश्रमों पर जाकर उनके द्वारा सत्कृत होने लगे।

अज्ञानी मूर्खों को तो दूसरों को छेड़ने में ही आनन्द आता है। विशेषकर वे महात्माओं को अधिक सताते हैं। जैसे विषयी पुरुष जिसे देखते हैं उसे ही विषयी समझते हैं और अकारण परीक्षा लेने के लिये भाँति-भाँति की क्रूरतायें करते हैं वैसे ही दुष्ट लोग कुतूहलवश महात्माओं पर प्रहार करते हैं, उनके मर्मस्थानों को वेधते हैं, गाली देते हैं अपमान करते हैं, कि देखें वह महात्मा है या ढोंगी। वास्तव में तो उन्हें दूसरों को दुख देने में आनन्द आता है, इसलिये वे ऐसा करते हैं।

जिधर से बाल बखेरे दिगम्बर ऋषभदेवजी निकलते उधर ही दुष्ट लोग उन्हें देखकर हँसते। कोई कहते बड़ा ढोंगी है,

कोई कहता महात्मा है, दूसरा उसका विरोध करते। यदि लगोटी फेंकने से ही कोई महात्मा हो जाता हो, तो हम भी नंगे हो जायँ। कोई कहता—"अरे भैया! ये तो समदर्शी हैं। दूसरा दुष्ट कहता—"अभी डंडे पड़ें तो सब समदर्शीपना भूल जाय।" कुछ लोग इस पर परीक्षा लेने तुल जाते। कोई उन्हें घुड़ककर गाली देकर कहता—"अरे ओ नंगे बाबा ठहर। धूर्त कहीं का पाखण्ड बना रखा है। तुझे नंगे घूमने में लज्जा भी नहीं आती। कोई इतने में ही दौड़कर दो डण्डा जमा देता। दुष्टों की यातना से वे चुप बैठ जाते। इस पर कोई उनके शरीर पर लघुशंका कर देता, कोई दीर्घशंका कर देता। कोई थूक देता, कोई ईंट पत्थर उठाकर मार देता, जिससे उनके अंगों से रक्त प्रवाहित होने लगता। कोई लू लू है लू लू है, कहकर धूलि ही उनके ऊपर फेंक देता। कोई दुष्ट टाँट उठाकर अपान वायु ही जोर से उनके ऊपर छोड़ देता और फिर हँसते-हँसते लोट-पोट जाता। कोई बुरी-बुरी गालियाँ ही बकता। इतना सब होने पर भी भगवान् ऋषभदेव कुछ भी नहीं बोलते। उनकी शरीर में न तो आसक्ति ही थी न निजपने का अभिमान ही था। कोई मार देता तो सह लेते, बैठाता तो बैठ जाते। भगा देता तो चले जाते। इस प्रकार निरुद्देश्य होकर द्वन्द्वों को सहन करते हुए घूमने लगे।

शरीर में धूलि लगी रहने पर भी, बाल रूखे और चिपटे होने पर भी, शरीर वस्त्र आभूषणों से रहित होने पर भी वे बड़े सुन्दर लगते थे। धूलि में लिपटी रहने पर भी मणि, मणि ही है। उनका जन्म कुलीनवंश में हुआ था। वे देखने में बड़े ही रूपवान् थे। उनके सभी अंग सुन्दर सुकुमार सुडौल और लावण्ययुक्त थे, हाथों की गद्दियाँ पैरों के तलवे ओष्ठ आँखों के भीतरी पलक अरुण वरण के थे। बाहु और वक्षःस्थल विशाल थे कन्धे उभरे हुए और सिंह के समान थे, कण्ठ सुडौल और शङ्ख के समान

उतार चढ़ाव का था, नासिका सुन्दर नुकीली शुक के समान मनोहर थी। उनका मुख कमल के समान मन्द मुस्कानयुक्त लावण्यमय और आकर्षक था। जिस पुर ग्राम अथवा नगर में होकर निकल जाते उधर ही सबके मन को चुराते हुए कामबाण से बनिताओं को घायल करते हुए मन्द सुगन्धित पवन के समान सबके चित्तों को प्रसन्न करके चले जाते। कपोलों को झुककर झूम-कर चूमने वाली उनकी काली कुटिल भ्रमरावली के समान अल-कावली कहीं-कहीं चिपट कर जटें बन गई थीं। उन जटाओं के महान् भार को धारण करते हुए वे स्वच्छन्द हरिण के समान, मदोन्मत्त गज के समान घूमते थे। लोग उन पर ढेले, कङ्कड़ पत्थर फेंकते, मारते पीटते, किन्तु वे किसी की ओर ध्यान ही नहीं देते थे।"

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! इतने बड़े महापुरुष ईश्वरावतार ज्ञानी परमहंस को मूर्ख लोग इतना कष्ट क्यों देते थे। वे तो शरीर से नंगे थे वाणी से बोलते नहीं थे, किसी का कुछ अपकार नहीं करते थे, फिर उन्हें पीड़ित करने से उन्हें क्या लाभ था? इस पर हँसते हुए श्रीशुक बोले—"राजन्! दुष्ट पुरुष कुछ लाभ के लिये ही थोड़े करते हैं। साधु पुरुष को कष्ट देना यह दुष्टों का स्वभाव होता है। हाथी अपने रास्ते से चला जाता है कुत्ते उसे देखते ही भौंकने लगते हैं, सिंह स्वच्छन्द होकर वन में जाता है, मक्खियों का कुछ भी अपकार नहीं करता फिर भी वे उसे काट लेती हैं। इसी प्रकार दुष्ट पुरुष साधु पुरुषों को देखते ही द्वेष करने लगते हैं, उन्हें कष्ट पहुँचाने की हर प्रकार से चेष्टा करते हैं।

श्रीशुक कहते हैं—"इस प्रकार राजन्! स्वच्छन्द विचरते हुए भगवान् ऋषभ जीवन्मुक्त का आनन्द लूटने लगे। परमार्थ

पथ के लिये पथिकों को अपने आचरणों द्वारा परमहंस धर्म की शिक्षा देने लगे ।"

छप्पय

कोई फेंके ढेल सेल तें कोई मारे ।
त्यागि देहि मल मूत्र धूरि खल कोई डारे ॥
कोई गारी देहि दुष्ट ढोंगी जिह आयो ।
ठग विद्या के हेतु धूर्त ने वेष बनायो ॥
स्वारथ हित पागल बन्यो, सब समुझे स्यानो खरो ।
सब मिलि जा अवधूत की, लाठी तें पूजा करो ॥

भगवान् ऋषभदेव की अजगरी वृत्ति

(३१८)

को न्वस्य काष्ठामपरोऽनुगच्छेन्
मनोरथेनाप्यभवस्य योगी ।
यो योगमायाः स्पृहयत्युदस्ता
ह्यसत्तया येन कृतप्रयत्नाः ॥*

(श्रीभा० ५ स्क० ६ अ० १५ श्लोक)

छप्पय

मारें पीटें मूर्ख होहि क्षत विक्षत तनु सब ।
तातें त्याग्यो गमन रहें अजगर सम नृप सब ॥
पानी पशु सम पियें लेटिकें भिक्षा पावें ।
त्यागि देहिँ मलमूत्र अंग विष्ठा लपटावें ॥
करें घृणित व्यापार जब, फटकें नहिँ खल पास तब ।
जन्म कृतारथ करनकूँ, आई तिनि ढिँग सिद्धि सब ॥

संकल्प के बिना शरीर की कोई भी क्रिया नहीं होती । इसी लिये निःसंकल्प ज्ञानी महापुरुषों के मन में कोई संकल्प नहीं

---

* श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं—"राजन् ! इन अजन्मा भगवान् ऋषभदेव की पदवी को दूसरा कोई ऐसा योगी पुरुष मन से भी किस प्रकार प्राप्त कर सकता है, कि जिन सिद्धियों को असत् समझकर उन्होंने त्याग कर दिया था, उन्हीं की प्राप्ति के लिए जो निरन्तर प्रयत्नशील बना रहता था ।"

उठता वे न कहीं संकल्प से आते हैं न स्वयं खाते-पीते हैं। श्वास प्रश्वास की गति स्वभावानुसार होती रहती है। जो जितना ही संकल्पहीन नैष्कर्म्य होगा वह उतना ही बड़ा ज्ञानी होगा। ज्ञान को ६ भूमिकायें बनाई गई हैं। जीवन्मुक्तावस्था तो चतुर्थ भूमिका में ही प्राप्त हो जाती है। जीवनमुक्त होकर भी पुरुष सब व्यवहार कर सकता है, गृहस्थ सुख भोग सकता है। राज्य प्रबन्ध कर सकता है, सन्तानोत्पत्ति कर सकता है। इन सब कार्यों को करते हुए भी वह निर्लिप्त बना रहता है। विषय उनके लिये बन्धन नहीं होते। वह सब कुछ करते हुए भी अकर्ता बना रहता है। जनकादिक इसी भूमिका में स्थित रहकर सब कर्म करते हुए भी निर्द्वन्द्व बने रहते थे। चौथी भूमिका के अनन्तर जो तीन भूमिकायें उनमें केवल तितिक्षा का अभ्यास बढ़ाना होता है, क्योंकि अन्त समय तनिक भी शरीर में आसक्ति रह गई, तो कोई न कोई शरीर अवश्य धारण करना होगा। अन्त में शरीर का भान ही न रहे, विष्ठा में, मिठाई में, स्त्री में, पुरुष में, सर्प में, माला में, सुवर्ण में, मिट्टी में तत्वतः ज्ञान से ही नहीं दृष्टि से और व्यवहार से भी कोई भेद न रहे। यह स्थिति बहुत ऊँची है। कुछ ढोंगी पुरुष ऐसी स्थिति की आड़ में अपने को ज्ञानी बताकर लोगों को ठगते हैं और अपनी विषयवासना की इसी मिस से पूर्ति करते हैं।

भगवान् ऋषभदेव ने चतुर्थ भूमिका में स्थित रहकर गृहस्थ धर्म का पालन किया। पञ्चम भूमिका में स्थित रहकर दिगम्बर वेष से अवधूत बनकर अवनि पर विचरण किया। अब उन्होंने पञ्चम भूमिका को भी त्यागकर छठी भूमिका में प्रवेश किया।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! दुष्ट लोग ऋषभदेवजी को बहुत सताने लगे, फिर भी उनके मनमें कोई क्षोभ नहीं हुआ, तब उन्होंने घूमने फिरने में और दुष्टों द्वारा ताड़ना आदि सहते

में अपनी योग साधना में विघ्न समझा। अब वे तितिक्षा की मात्रा को और बढ़ाने लगे। अवधूत वृत्ति के अनन्तर वे अजगर वृत्ति में रहने लगे।

राजा ने पूछा—"भगवन्! अजगर वृत्ति क्या होती है? उनमें क्या करना पड़ता है?"

इस पर श्रीशुक बोले—"महाराज! करना क्या पड़ता है, दैवाधीन रहना है, अपने को सर्वथा प्रारब्ध पर छोड़ देना होता है। योग क्षेम के लिये कोई उद्योग नहीं, किसी प्रकार का पुरुषार्थ नहीं, कहीं जाना नहीं, कहीं आना नहीं। यदृच्छा लाभ सन्तुष्ट रहकर प्रारब्ध के अन्त की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। भगवान् ऋषभदेव अब अपने मनुष्यपनेके अभिमानको भूल गये। वे पशुओं की भाँति पानी पीने लगे। किसी ने दे दिया लेटे ही लेटे खा गये। न दिया भूखे ही पड़े रहे जैसे पशु लेटकर बैठकर खड़े होकर जहाँ भी होता है वहीं मल मूत्र त्याग देते हैं, वैसे ही वे भी बच्चों की तरह जहाँ चाहते हग देते। अपनी ही विष्ठा से अपने सम्पूर्ण अङ्गों को लथेड़ लेते। विष्ठा में ही बैठे रहते उसी पर लेट जाते। उनके इस घृणित व्यापार को देखकर कोई भी उनके पास नहीं फटकते। जो उनके महत्व को समझते वे ही दर्शनों को आते। दुष्ट लोग तो भ्रष्ट समझकर उनके पास भी खड़े नहीं होते। इससे वे बड़े आनन्द के साथ ब्रह्मानन्द सुख का अनुभव करने लगे।"

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! इतने ज्ञानी ध्यानी ईश्वर होकर भी ऋषभदेव ऐसा घृणित बीभत्स आचरण क्यों करते थे? इससे साधकों पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। इसे ही ज्ञान की चरम सीमा समझकर भ्रष्टाचार करने लगेंगे। यह हम मानते हैं, वे समदर्शी थे फिर भी लोकसंग्रह के लिये उन्हें ऐसा सदाचारहीन आचरण करना चाहिये?"

इस पर श्रीशुकदेवजी बोले—"महाराज! आपका कहना सत्य है। साधारण लोग बाह्य बातों को ही देखकर उसके अनुसार आचरण करने लगते हैं। किन्तु सत्यता कहीं छिपती नहीं ढोंग चिरकाल तक छिपता नहीं। चन्दन में और मल में मन से नहीं व्यवहार से भी कोई भेद न करना कठिन कार्य है, सब इसका आचरण नहीं कर सकते।"

नैमिषारण्य के बीच में ऋषियों के मध्य में बैठे हुए शौनकजी ने सूतजी से पूछा—"सूतजी! भगवान् ऋषभदेव जब अपनी ही विष्ठा को अङ्ग में लगा लेते होंगे, तब कोई भी उनके पास न जाता होगा?"

इस पर सूतजी ने कहा—"हाँ, भगवन्! साधारण लोग तो उनसे घृणा करते ही थे, किन्तु ज्ञानी तो उनके मर्म को समझते थे, वे उनकी ऐसी दशा में भी बड़ा आदर करते थे।"

शौनकजी कहा—"सूतजी! ऐसा तो पशु भी करते हैं, पागल भी ऐसा करते हैं। छोटे बच्चे भी जहाँ होता है वहीं शौच फिर देते हैं, उनमें और इनमें क्या अन्तर रहा?"

इस पर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज! आप सब जानते हैं। ये लोग तो अज्ञानवश ऐसा करते हैं। ज्ञानी, ज्ञान की पराकाष्ठा होने पर शरीर के मोह को नष्ट करने के निमित्त, समत्व में चित्त को सर्वथा स्थिर रखने के निमित्त ऐसा करते हैं। कुछ ढोंग प्रतिष्ठा के निमित्त भी ऐसा करने लगते हैं, किन्तु अन्त में उनकी कलई खुल जाती है। इस विषय में मैं आपको एक बड़ी मनोरंजक घटना सुनाता हूँ।

विश्वनाथ पुरी वाराणसी में एक परम विरक्त अवधूत रहते थे। उनकी सैकड़ों वर्ष की आयु थी बिना वस्त्र के वे इधर से उधर घूमा करते थे। वाराणसी के विद्वान् उनकी बड़ी प्रतिष्ठा करते थे। उनकी स्थिति इतनी ऊँची थी, कि वे स्वयं खाते भी

नहीं थे जो कोई उनके मुँह में डाल देता उसे ही निगल जाते चाहे कोई चार दिन तक मत खिलाओ चाहे दिन भर मनों खिलाते रहो। यहाँ तक कि एक बार एक आदमी ने परीक्षा के निमित्त १५-१६ सेर गोबर खिला दिया और वे उसे बिना आपत्ति किये खा गये।

उनकी ऐसी प्रतिष्ठा देखकर एक ढोंगी साधु को भी इच्छा हुई कि मेरी भी इसी प्रकार ख्याति हो। अतः उसने भी लँगोटी उतार कर फेंक दी। वह भी दिगम्बर बनकर शीतोष्ण सहन करने लगा। तपस्या में आकर्षण तो होता ही है, उनके समीप भी लोग आने लगे। साधारण लोग उसकी प्रतिष्ठा करने लगे। इस पर वह भी सर्वथा अपने को परमहंस अवधूत समझने लगा। जहाँ चाहता वहीं मल मूत्र कर देता, चाहे जिसकी गोद में बैठकर खाने लगता। लोग महात्मा समझकर अच्छी-अच्छी वस्तुएँ खिलाते। ज्येष्ठ मेवा, मिठाई खाकर वह साँड़ की भाँति मोटा हो गया और जहाँ चाहे वहीं भूमि को अपवित्र करने लगा। कहीं बाहर से एक रानी वाराणसी में आई। वह बड़ी विदुषी और ज्ञान सम्पन्ना थी। किसी ने जाकर उससे इन अवधूतजी की प्रशंसा की। वह बड़ी श्रद्धा के साथ उनके दर्शनों को गई। आस-पास मूर्ख यात्रियों का जमघट लगा था। परमहंस बाबा भैंसे की भाँति वहाँ पड़े-पड़े खा पी रहे थे। रानी भी प्रणाम कर चुपचाप बैठ गई। अब तो परमहंस बाबा की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। उठकर कौतूहल वश रानी की गोद में जा बैठे। उसके बहुमूल्य वस्त्रों से जो इत्र आदि की सुगन्धि आ रही थी उसी से परमहंसजी मस्त हो गये। रानी बड़े सत्कार से अपने हाथों से उन्हें पेड़े खिलाने लगी। खाते-खाते ही परमहंसजी ने उनके वस्त्रों पर हग दिया। पशु के बराबर चौथ के चौथ मल की दुर्गन्धि से रानी का चित्त बिगड़ गया। उसे इसकी

वृत्ति पर कुछ सन्देह होने लगा। उसने क्या काम किया कि पेड़े खिलाते-खिलाते एक पेड़े में उसी का बहुत-सा मल लपेट कर ज्योंही उसके मुँह में देना चाहा, त्योंही उसने मुँह फेर लिया। इस पर रानी समझ गई, कि यह ढोंगी परमहंस है। उसने बड़े रोष के स्वर में कहा—"परमहंस बाबा! तुम्हें इतना तो ध्यान है नहीं कि यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह रानी है यह गरीबनी है। यहाँ मलमूत्र त्यागना चाहिये यहाँ न त्यागना चाहिये किन्तु यह तुम्हें भान कैसे हो गया है, कि यह पेड़ा है यह विष्ठा है, इसे खाना चाहिये, इसे देखकर मुँह मोड़ लेना चाहिये। कृपा करके लोगों को ठगना छोड़ दो, पेट के लिये ऐसा पाप मत करो। वस्त्र पहिन लो। सरलता से साधन करो।"

भगवान् की दया थी या तितिक्षा का फल था, उस पर इस बात का बड़ा प्रभाव पड़ा और उसी समय उसने वस्त्र धारण कर लिये और सरलता से भगवत्भक्ति में लग गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अजगर की भाँति जीवन को बिताना और विष्ठा में भी किसी प्रकार का भेदभाव न करना यह अत्यन्त ऊँची स्थिति है। इसीलिये तो ऋषभदेवजी की स्थिति को सुनकर महाराज परीक्षित् चकित हो गये और बार-बार मेरे गुरुदेव भगवान् शुक से उन्हीं के सम्बन्ध में प्रश्न करने लगे।"

श्री शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाराज परीक्षित् ने आगे क्या प्रश्न पूछा, कृपा करके उसे हमें सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाभाग! मल मूत्र में लिथड़े रहने की बात सुनकर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! विष्ठा में अंग सने रहने से क्या उन्हें दुर्गन्ध नहीं आती थी? मल की दुर्गन्ध तो बहुत दूर तक जाती है।"

इस पर श्रीशुक बोले—"राजन्! उनका शरीर तो चिन्मय

और दिव्य बन गया था, उसमें दुर्गन्ध कहाँ रह सकती है। यही नहीं उनके मल में मलयागिरि चन्दन से भी सहस्रों गुणी सुगन्ध उठती थी, जिसके सौरभ से ४० कोस तक वायु सुगन्धित हो जाती थी।"

इस प्रकार राजन्! मोक्षपति भगवान् ऋषभदेव नाना प्रकार की योगचर्याओं का आचरण करने लगे। वे सर्वोपरि अति उत्कृष्ट आनन्द में नित्य ही निमग्न रहने लगे। वे सम्पूर्ण प्राणियों की अन्तरात्मा में अभिन्नभाव से भगवान् वासुदेव के रूप में स्थिति हो जाने के कारण सम्पूर्ण पुरुषार्थों से परिपूर्ण हो गये थे। उन्हें न किसी वस्तु की आकांक्षा थी न अभिलाषा। उन्हें न स्वतः आई वस्तु से हर्ष होता था, न स्वतः गई हुई वस्तु से शोक। द्वन्द्वातीत होकर सुख-दुख में समान भाव से रहते हुए ब्रह्मानन्द के रूप में रस का आस्वादन करते रहे।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"महाराज! इस प्रकार श्री ऋषभदेवजी ने इस शरीर में ही त्रिगुणातीत अवस्था को प्राप्त कर लिया।"

छप्पय

खलजन निन्दें चाहिँ करें पण्डित बहु वन्दन।
मलते विथिरचो अंग चढ़ावें चाहे चन्दन॥
ज्ञानी माला सर्प एक सम करिके जानें।
होवें जड़ चैतन्य नारि नर भेद न मानें॥
जो जग देखे ब्रह्ममय, उनको ज्ञानी नाम है।
तिनके पावन चरन महँ, श्रद्धा सहित प्रनाम है॥

ऋषभदेवजी द्वारा स्वतः आई सिद्धियों का परित्याग

[३१६]

न कुर्यात्कर्हिचित्सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते ।
यद्विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम् ।।*

(श्री भा० ५ स्क० ६ अ० ३ श्लोक)

छप्पय

आई सबई सिद्धि सिद्धि ने सब ठुकराई ।
करी विनय बहु भाँति नेंक हू नहिँ अपनाई ।।
मन अति दानव दुष्ट करे विश्वास न कबहूँ ।
इन्द्रियजित ह्वै जाय बचे विषयनि तें कबहूँ ।।
ब्रह्मा विश्वामित्र, शिव, धोखो सबकूँ मन दयो ।
कबहुँ न माने मूलमहँ, मेरो मन वश में भयो ।।

जब तक मनुष्य द्वन्द्वातीत नहीं हो जाता, शरीर के संकल्प से सर्वथा ऊपर नहीं उठ जाता तब तक मन बना ही रहता है और संकल्प विकल्पों को करता ही रहता है। इसीलिये शरीरधारी

---

* श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं—"राजन् ! इस अनवस्थित चित्त से कभी भी मित्रता न करे देखिये इस चित्त पर विश्वास करने के कारण ही तो भगवान् शङ्कर साक्षात् शिव का चिरकाल संचित तप क्षीण हो गया ।

को सदासावधानी से रहना चाहिये। अपने मन पर कभी भी विश्वास न करना चाहिये। योग में आरुढ़ हुए योगी का भी अधः पतन हो जाता है। संग से, आसक्ति से योगी भी कभी-कभी विषयों में फँसे हुए देखे गये हैं। इसीलिये शास्त्रकारों ने इस बात पर स्थान-स्थान पर अत्यधिक बल दिया है, कि विषयों का जहाँ तनिक भी संसर्ग हो वहाँ से परमार्थ पथ के पथिक को तुरन्त हट जाना चाहिये। नहीं तो उसकी गन्ध से ही उसकी साधना में विघ्न पड़ जायगा। विषय और इन्द्रियों के संसर्ग होने से कामना बलवती हो ही जाती है। यद्यपि ज्ञानी और भक्तों की अपनी कामना कोई रहती ही नहीं, तो अपनी समस्त कामनायें सर्वेश्वर की कामना में मिला देते हैं फिर भी लोकसंग्रह के निमित्त उन्हें भूलकर भी विषयों में आदर बुद्धि प्रदर्शित न करनी चाहिये। शरीर का भाव ही न रहे तब तो दूसरी बात है किन्तु जब तक शरीर की सुधि है, भोजन पान की आवश्यकता प्रतीत होती है तब तक विषयों से बचे रहना उन्हें किसी भी दशा में न अपनाना, यही महापुरुषों का लक्षण है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब भगवान् ऋषभदेव जी जीवन्मुक्ति का सुख ले रहे थे ज्ञान की छठी भूमिका में रह कर संसार की असारता का अनुभव कर रहे थे उसी समय समस्त सिद्धियाँ मूर्तिमान बनकर उनके समीप आईं जिनके सहारे से वे संकल्प मात्र से अदृश्य हो सकते थे, जल पर स्थल की भाँति चल सकते थे, आकाश में उड़ सकते थे परकाय में प्रवेश कर सकते थे, अधिक कहाँ तक कहें इच्छा होने पर नवीन सृष्टि तक कर सकते थे।"

सभी सिद्धियों ने आकर कहा—"देव! हम दासियों को कुछ सेवा समर्पित कीजिये हमें अपनी कैंकर्य का अवसर प्रदान कीजिये, हमें अपनाइये।"

उनकी बात सुनकर ऋषभदेवजी मुस्करा गये। उन्होंने सिद्धियों की बात स्वीकार नहीं की अपनाना तो दूर रहा उन्हें उसी समय ठुकरा दिया और वहाँ से चले जाने की आज्ञा दी।

इस पर महाराज परीक्षित ने पूछा—"भगवन्! मुझे ऐसा लगता है भगवान् ऋषभदेव ने सिद्धियों का तिरस्कार करके उचित कार्य नहीं किया। उनके लिये प्रिय अप्रिय, सुख दुख, हानि लाभ, जीवन मरण, यश अपयश, शत्रु मित्र, स्वाद, अस्वाद, शोक अनुग्रह, स्तुति निन्दा सभी समान हैं। जब वे भूमि पर रहते थे, वायु का तिरस्कार नहीं करते थे सूर्य के प्रकाश से कार्य चलाते थे, पृथ्वी पर बहते हुए पानी को पीते थे अन्न को भी परेच्छा से ही खाते थे, मल-मूत्र का भी त्याग करते थे आकाश के नीचे रहते थे। तो फिर उन्होंने सिद्धियों का तिरस्कार क्यों किया ?"

इस पर शुकदेवजी ने कहा—"महाराज! साधुओं को सिद्धि से क्या लेना ? वह तो नट बाजीगरों का काम है सिद्धि दिखा कर दूसरों को प्रभावित करना। धन यश की वृद्धि करना। साधुओं के धन तो श्रीहरि हैं।"

राजा परीक्षित् ने कहा—"नहीं महाराज! धन यश की बात नहीं, सिद्धियाँ भी पड़ी रहतीं। कभी इच्छा आई आकाश में उड़ कर चले गये। दीन दुखियों का उपकार कर दिया। इसमें क्या हानि है ?"

इस पर श्रीशुकदेवजी बोले—"महाराज! हानि तो कुछ नहीं है, किन्तु मनमानी करने से मन शनैः शनैः पुनः विषयों की ओर ले जाता है। परोप करते-करते मन में अहङ्कार का उदय हो सकता है। योगारूढ़ होने पर भी पतन की सम्भावना हो सकती है।"

राजा बोले—"भगवन्! यह शङ्का साधारण लोगों के संबंध

में तो की जा सकती है, किन्तु जिन्होंने ज्ञान रूप अग्नि के द्वारा कर्म रूप बीजों को भून दिया है ऐसे आत्माराम महात्माओं का सिद्धियाँ क्या बिगाड़ सकती हैं। उन पर सिद्धियों का क्या प्रभाव पड़ सकता है। एक बात यह भी है कि सिद्धियों के लिये प्रयत्न किया जाय तो कुछ सम्भावना का भी अवसर है। अपने आप ही स्वतः आई हुई सिद्धियों का अपमान करना मुझे तो उचित जँचता नहीं।"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"महाराज! ऋषभदेव तो सिद्धों के भी सिद्ध हैं, उनका सिद्धियाँ क्या बना बिगाड़ सकती हैं किन्तु वे अपने आचरणों द्वारा हमें यह उपदेश देते हैं, कि इस बहेलिया मन का कभी भी विश्वास न करना चाहिये। यह समझकर कि अब तो मैं सिद्ध हो गया, विषय भोग मेरा क्या बिगाड़ सकते हैं, भूलकर भी विषयों में प्रवेश न करे। बड़े ज्ञानी ध्यानी यति योगी इस चित्त का विश्वास करके अपने लक्ष्य से च्युत हो गये। देखिये शिवजी ने भगवान् से प्रर्थना की, कि—"प्रभो! मुझे अपना वह मोहिनी रूप दिखाइये, जिसके द्वारा आपने दैत्यों को ठगा था।" यह सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले—"भोलेनाथ! तुम क्यों चक्कर में पड़े हो, जान-बूझकर क्यों अपने पैर में कुल्हाड़ी मारते हो, क्यों बर्रों के छत्ते में हाथ देते हो, क्यों बिना बात मस्त हाथी के सामने जाते हो, क्यों सिंह की दाढ़ उखाड़ना चाहते हो। अपना राम राम रटो, इन व्यर्थ की बातों के लिये कुतूहल करना ठीक नहीं। वह तो मैंने दैत्यों को ठगने को रूप बनाया था, उसके दर्शनों से तो काम की वृद्धि होती है, चित्त चञ्चल होता है। क्यों बैठे ठाले उपद्रव मोल लेते हो?"

यह सुनकर योगेश्वरों के भी ईश्वर त्रिनेत्र मदन दहन करने वाले शूलपाणि पिनाकी दृढ़ता के स्वर में बोले—"नहीं भगवन्! बहुत से अवतारों के मैंने दर्शन किये। कच्छ, मच्छ, वाराह

नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि सबको देखकर नेत्र सफल किये। इस अवतार के भी दर्शन करना चाहता हूँ।"

भगवान् ने मुस्कुराकर कहा—"भोले बाबा! अवतार से नेत्र सफल होंगे कि नहीं इसका तो मुझे पता नहीं किन्तु चार नेत्र होते ही चित्त चञ्चल हो उठेगा। अपनेपन को भूल जाओगे फिर गोविन्दाय नमो नमः हो जायगी पार्वतीजी को बड़ा दुःख होगा।"

शिवजी बोले—"अजी महाराज! काम को तो मैंने पहिले ही भस्म कर डाला। मेरे ऊपर उसका जादू नहीं चल सकता। यहाँ वे धान नहीं जिन्हें चिड़िया चुग जायँ।"

शिवजी का आग्रह देखकर भगवान् ने मोहिनी रूप का दर्शन करा दिया और शिवजी की जो दशा हुई वह यहाँ कही नहीं जा सकती। सो राजन्! सिद्धियों के चक्कर में सिद्ध को न पड़ना चाहिये। भगवद् भक्त की सिद्धियाँ सदा किंकरी बनी ही रहती हैं, किन्तु उन्हें स्वीकार करे उन्हें प्रकाश में न लावे। शक्कर जब तक दबी ढकी रहती है, तभी तक सुरक्षित रहती है। जहाँ प्रकाश में आई, खुली रख दी की झुन्ड-झुन्ड चींटियाँ चींटे आकर उसे घेर-घेरकर खाने लगते हैं। सिद्ध ने जहाँ तनिक सिद्धि दिखायी कि ये संसारी कामी पुरुष फिर उनके पास आने लगते हैं, मुझे बेटा दो, धन दो, मलूक-सी बहू दो, रोग से छुड़ाओ मुकदमा जिताओ, सट्टा बताओ, किसी से माल टाल दिलाओ और न जाने क्या-क्या माँगते हैं। इससे योग में कुछ-न-कुछ विघ्न पड़ता है। पहिले कीच से कपड़े को गन्दा करे। फिर जल से धोवे, इसकी अपेक्षा तो यही उत्तम है कीच से दूर ही रहे। यह चित्त बड़ा दुष्ट है। इसका कभी विश्वास न करना चाहिये। जैसे व्यभिचारिणी स्त्री अपनी चिकनी चुपड़ी बातों से पहिले तो पति पर बड़ा प्रेम प्रदर्शित करती है, फिर जार पति को

चुपके से घुसाकर उसकी हत्या करा देती है। वैसे ही मन काम को तथा उसके मित्र लोभ क्रोध को अवसर देकर मनुष्य के तप, तेज, प्रभाव और सदाचार को नष्ट करके उसे भ्रष्ट बना देता है।

यह मन ही काम, क्रोध, मद, लोभ, शोक, मोह, तथा भय आदि का मूल कारण है। मन की इससे स्वाभाविक मित्रता है, ऐसे दुष्ट मन पर बुद्धिमान कैसे विश्वास कर सकते हैं। कैसे इस चञ्चल घोड़े की लगाम ढीली कर सकते हैं। इसीलिये राजन् भगवान् ऋषभदेव ने सिद्धियों को स्वीकार नहीं किया। उनका तिरस्कार कर दिया। देखिये किसी चीज को ग्रहण करने से जो सुख मिलता है, उससे शतगुना सुख उसके त्याग में मिलता है, इसीलिये योगिजन संग्रह का आग्रह नहीं करते वे सदा त्याग में ही तत्पर रहते हैं।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव इसी देह से जीवनमुक्ति का परमोत्कृष्ट सुख भोगते हुए बालकवत् क्रीड़ा करने लगे; अजगर की भाँति निश्चेष्ट होकर कालयापन करने लगे।"

छप्पय

मन मतंग उद्दण्ड दुष्टता करे सदाई।
संयम अंकुश सदा रखे अपने कर माहीं॥
हरे हरे प्रियघान उख मीठी लखि लखि कें।
दौरावे निज सुँड़ि होहि प्रमुदित अति भखिकें॥
गज अरोही युक्ति तैं, पैनो अंकुश धारिकें।
प्रबल प्रलोभन तें विरत, करे चित्त गज मारिकें॥

—:—

श्री ऋषभदेवजी का देहत्याग

[३२०]

नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्ततृष्णः
श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः ।
लोकस्य यः करुणयाभयमात्मलोक—
माख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै ॥*
(श्रीभा० ५ स्क० ६ अ० १६ श्लोक)

छप्पय

मलिन वसन के सरस लखें ज्ञानी जा तनकूँ ।
सुख दुख महँ सम रहें रखहि संयत निज मनकूँ ॥
ऋषभ त्यागि अभिमान लिंग अरु थूल देह को ।
त्यागो निजपन सर्व पुत्र धन धाम गेह को ॥
योग वासना तें बची, तनिक अहं आभास मति ।
ताही तें घूमत फिरत, चलत स्वास प्रस्वासगति ॥

शरीर अभिमान से उत्पन्न होता है, अहंभाव से स्थित रहता है। सभी कर्म संकल्प से होते हैं। शरीर से अहंभाव न

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जो स्वयं निरन्तर अनुभव होने वाले आत्मस्वरूप की प्राप्ति से सभी तृष्णाओं से निवृत्त हो चुके हैं। जिन्होंने करुणावश विषय भोगों का निरन्तर सेवन करने के कारण अपने वास्तविक श्रेय से सोये हुए लोगों को निर्भय आत्मलोक का उपदेश किया है उन भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार है।"

हो, तो कोई संकल्प भी न उठे। संकल्प न उठे तो कोई क्रिया भी न हो। क्रिया न हो तो इस शरीर की स्थिति भी न रहे। इससे यही सिद्ध होता है, कि शरीर धारण के लिये अहङ्कार आवश्यक है। ज्ञानी पुरुषों को संसारी पुरुषों की भाँति अहंकृतभाव नहीं होता, फिर भी उनमें भी शरीर धारण के निमित्त सूक्ष्म अहङ्कार तो बना ही रहता है, जिससे उनकी शरीर सम्बन्धी क्रियायें स्वभावानुसार बिना संकल्प के होती रहती हैं। जब वह सूक्ष्म अहङ्कार भी विलीन हो जाता है, तब यह पाञ्चभौतिक शरीर अधिक दिनों तक टिक नहीं सकता। क्योंकि शरीर रक्षा के लिये अहङ्कार आवश्यक समझा गया है। अहंकार शून्य व्यक्ति तो सर्वगत सूक्ष्म गुणों से रहित और सर्वव्यापक है, उसका व्यष्टि अभिमान समष्टि रूप में परिणित हो जाता है। स्थल, सूक्ष्म भूत अपने-अपने कारणों में विलीन हो जाते हैं वह मुक्त हो जाता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान् ऋषभदेव ऐसे-ऐसे आचरण करने लगे, जिन्हें देखकर सभी लोग उन्हें मूढ़मति तथा अज्ञानी अनुभव करते थे।"

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! इतने ज्ञानी और अवतारी होकर भी ऋषभदेवजी—नंगे रहना मलमूत्र में सने रहना ऐसे—लोक विरुद्ध कार्यों को क्यों करते थे?"

इस पर श्रीशुकदेवजी ने कहा—"राजन्! भगवान् ऋषभदेव जी परम ऐश्वर्य सम्पन्न समस्त सिद्धियों के स्वामी इन्द्रादि लोकपालों के भूषण थे। फिर भी अपने ऐश्वर्य को छिपाये रखने के लिये अवधूत वेष बनाये जड़ पुरुषों के समान आचरण करते थे। देखिये, महाराज! जिनके पास जो सबसे मूल्यवान् वस्तु होती है, उसे प्रायः वे छिपाये ही रखते हैं। किसी विशेष अवसर पर अपने अत्यन्त निकट सम्बन्धी के सम्मुख ही उसे प्रकाशित

करते हैं। बताइये कोई अपने धन को सबके सम्मुख प्रकट करता है ? कितने भी धनी से पूछिये, यही कह देगा—जैसे तैसे काम चलता है। धनी अपने धन को जैसे छिपाये रखता है वैसे ही ज्ञानी अपने ऐश्वर्य, बल, सामर्थ्य, प्रभाव, ज्ञान और विज्ञान को छिपाये रखता है। सभ्य नर नारी जैसे अपने गुह्य अङ्गों को छिपाये रखते हैं। जो अपने ऐश्वर्य का धन का प्रभाव और प्रतिष्ठा का स्वतः प्रदर्शन करता फिरता है वह तो व्यापारी है। उसका प्रदर्शन उन वस्तुओं की वृद्धि की भावना से है। बिना प्रदर्शन के अनुमान से लोग उसकी निधि को समझ जायँ यह दूसरी बात है। इसीलिए ऋषभदेवजी ने न तो सिद्धियों को स्वीकार करके उनका किसी प्रकार उपयोग किया और न अपने ईश्वरीय प्रभाव को ही प्रकट होने दिया। ज्ञानी तो अपनी योग दृष्टि से जानते ही थे, ये ईश्वर हैं। उन्हें मिथ्याभिमान तो कभी होने ही वाला नहीं था। शरीरादि का जो व्यवहारिक अभिमान था, उसे भी उन्होंने त्याग दिया। अब तो वे योगमाया की वासना से केवल अभिमानाभास के आश्रय ही इस शरीर को धारण किये रहे। वास्तव में वे लिङ्ग देह के अभिमान से मुक्त होकर अपनी अन्तरात्मा में अभेद रूप से स्थित परमात्मा को अपने साथ तादात्म्य भाव से अनुभव करते थे।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! जब शरीर में अभिमान ही शेष नहीं तब वह टिक ही कितने दिन सकता है ?"

श्रीशुक बोले—"राजन्! यही तो मैं कह रहा हूँ, उनका शरीर अब अधिक दिन टिकने वाला नहीं था। बिना संकल्प के प्रारब्ध वश शरीर इधर से उधर फिरता रहता था। इस पर दक्षिण देश के कोङ्क-वेङ्क कुटक और कर्णाटक आदि देशों में वे बाल बिखेरे वस्त्रविहीन दिगम्बर वेष में विचरते रहे।

एक बार वे उन्मत्त की तरह शरीर की सुधि-बुधि भूले हुए

ब्रह्मानन्द में निमग्न हुए कुटकाचल के उपवनों में विचरण कर रहे थे। शरीर पर कोई वस्त्र नहीं था, सम्पूर्ण अङ्ग में धूलि लगी हुई थी आँखें चढ़ी हुई थीं, बाल बिखरे हुए थे इस प्रकार मदोन्मत्त के समान मुख में पत्थर धारण किये फिर रहे थे।"

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! श्री ऋषभदेवजी ने मुख में पत्थर क्यों रख लिया था? इसका क्या तात्पर्य है?"

यह सुनकर शुकदेवजी कुछ देर सोचते रहे और फिर बोले—"राजन्! अवधूतों की परिचर्या जानी नहीं जाती। वे किस अभिप्राय से कौन सा कार्य करते हैं। एक तो मुख में पत्थर रखने का अभिप्राय यह भी हो सकता है, कि इस शरीर के अङ्गों में और पत्थर में कोई भेद नहीं। जैसे ही दाँत वैसे ही पत्थर। इसलिये समत्व दिखाने को उन्होंने मुख में पत्थर को धारण किया। अथवा जो लोग इस मानव शरीर को पाकर भी केवल खाने-पीने की ही चिन्ता में फँसे रहते हैं, वे मानो पत्थर खाते हैं अथवा मूर्ख पुरुष जो मुझे पागल समझकर पत्थर मारते हैं, उन्हें मैं बुरा भला नहीं कहता। पत्थरों को भी उसी प्रकार खा लेता हूँ जैसे भोजन देने वाले के भोजन को खा लेता हूँ। अथवा जो हृदयहीन, रूखे पत्थर के समान अन्तःकरण वाले हैं उन्हें काल मुख में डाल लेता है, किन्तु वे मुख में जाकर भी जैसे के तैसे निकल आते हैं। जन्म-मरण को देखते हुए भी पसीजते नहीं उनके मन में किसी प्रकार का विकार नहीं होता। अथवा ऋषभदेवजी परमहंसों को उपदेश दे रहे हैं, कि वे ज्ञानी होकर भी बालकवत् क्रीड़ा करें। जैसे छोटे बच्चों को रुपया पैसा मिट्टी फल मिठाई जो भी मिलता है, उसे मुख में रख लेता है, उसी प्रकार ज्ञानी को प्रारब्धवश जो भी मिल जाय उसी में सन्तुष्ट रहना चाहिये। मीठे फीके का भेदभाव नहीं करना चाहिये। इस

प्रकार महाराज ! मुख में पत्थर धारण करने के और भी अनेकों अभिप्राय हो सकते हैं।

अब भगवान् ऋषभदेव की इच्छा इस पाञ्चभौतिक शरीर का परित्याग करने की हुई। जब वे कुटकाचल के उपवनों में विचरण कर रहे, तो एक दिन सहसा वायु वेग के कारण हिलने और परस्पर में संघर्ष होने से बाँसों में से अग्नि उत्पन्न हो गई, जिसे दावानल कहते हैं। उस अग्नि से उत्पन्न होते ही सम्पूर्ण वन को जलाना आरम्भ कर दिया। श्री ऋषभदेवजी भी वहीं विराजमान थे। उन्हें शरीर का मोह होता उसमें आसक्ति होती तो उसे बचाने का प्रयत्न भी करते उनकी तो पञ्चभूतों के बने सभी पदार्थों में अभेद बुद्धि थी अतः वे चुपचाप बैठे रहे। अग्नि ने उनके इस पाँचभौतिक शरीर को जला दिया। उनका शरीर भस्म हो गया।

इस पर राजा ने पूछा—"भगवन्! इतने महापुरुष योगी तथा साक्षात् भगवान् के अवतार ऋषभदेवजी के शरीर को जलाने का अग्निदेव को साहस कैसे हुआ ? जब अग्नि भगवान् भक्त प्रह्लादजी के शरीर को भी जलाने में समर्थ न हुए तब ये तो साक्षात् ईश्वर ही थे। इस विषय में मुझे बड़ा सन्देह है।"

इस पर शुकदेवजी बोले—"राजन्! आप सत्य कहते हैं, श्री ऋषभदेवजी की इच्छा न होती तो अग्नि की सामर्थ्य नहीं थी उनके शरीर को जला दें। किन्तु वे तो अब शरीर को छोड़ना ही चाहते थे। उनके संकल्प से ही अग्निदेव ने उनकी आज्ञा का पालन किया। उन्होंने योगियों को देह त्याग करने की विधि सिखाने के लिये ही इस प्रकार से शरीर को छोड़ना उचित समझा। अतः उनका शरीर उनके संकल्प से नष्ट हुआ।

इस प्रकार महाराज ! मैंने आपसे सम्पूर्ण वेद, लोक, देवता, ब्राह्मण और गौओं के परम गुरु भगवान् ऋषभदेवजी का परम

पावन पुण्यप्रद विशुद्ध चरित्र आपके सम्मुख कहा। अब आप और क्या पूछना चाहते हैं ?"

राजा ने पूछा—"भगवन् ! कुछ लोग भगवान ऋषभदेव को "अर्हत्" कहते हैं यह क्या बात है ? ऐसे लोग तो वेदों को नहीं मानते, भगवान् यज्ञ पुरुष की निन्दा करते हैं, यह क्या बात है ?"

इस पर शुकदेवजी ने कहा—"राजन् ! कुछ लोग किसी महापुरुष के नाम से कोई पन्थ बना लेते हैं। वे लोग महापुरुष के आन्तरिक भावों को ज्ञान विज्ञान को तो समझ नहीं सकते, उसके बाह्य वेष और आचरणों का ही अनुकरण करते हैं। काशी में एक महात्मा थे कभी-कभी वे एक लम्बी टोपी लगा लेते थे। उनके पीछे जो उनके नाम से पन्थ चला उसमें यही प्रधान चिन्ह हो गया, कि जो ऐसी टोपी लगावे वही उस पन्थ का अवलम्बी माना जायगा। कोई महात्मा नाक से तिलक लगाते थे, अब उनके नाम से जो सम्प्रदाय बना उसमें वैसा तिलक अवश्य होना चाहिये। और कुछ हो न हो। एक महात्मा कुछ चीर पैर में बाँधे रहते थे, पीछे से उनके अनुयायियों के मत में चीर बाँधना आवश्यक हो गया। इस प्रकार महाराज ! पुरुषों की इन्द्रियाँ बाहर की ओर होने से बाहरी वस्तुओं को ही शीघ्र धारण करती हैं। अन्तरात्मा की ओर कोई धीर वीर पुरुष ही देखते हैं। हमने ऐसा सुना है, कि जब भगवान् ऋषभदेव कोङ्क वेङ्क और कुटुकादि देशों में भ्रमण कर रहे थे तब उनकी उधर बड़ी महिमा हुई। कलियुग में जब इस वृत्तान्त को वहीं का होने वाला एक 'अर्हत' नाम का राजा सुनेगा, वह ऐसा ही आचरण स्वयं करेगा एक नवीन मत का प्रचार करेगा। उसके पीछे जो होंगे वे इन बातों का यथार्थ भाव न समझकर विचित्र-विचित्र अर्थ लगाकर अर्थ का अनर्थ करेंगे। वे देवमाया से

मोहित होकर शास्त्र विहित शौच और आचरण को छोड़कर अधर्म के प्रभाव से बुद्धिहीन होकर ऊट पटाँग बातें करेंगे। स्नान नहीं करेंगे। हिंसा न हो इसलिये दातौन न करेंगे। दाँतों पर मल धारण किये रहेंगे। मुख से दुर्गन्ध आवेगी। केशों का लुञ्चन करेंगे। ईश्वर का तिरस्कार करेंगे वे अहिंसा का मन माने ढङ्ग से अर्थ करके वेदों की, ब्राह्मणों की सतत निन्दा करते रहेंगे। अन्ध परम्परा के वशीभूत होकर अवैदिक आचरणों को भी उनकी भाँति आचरण करने वाले साधु पुरुषों का दोष नहीं, दोष तो उन स्वार्थियों का है जो इनके नाम से अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये भोले लोगों को बहकाते हैं। महाराज! इसमें किसी का दोष नहीं। यह तो युगधर्म है, भगवान् की इच्छा से ही यह सब होता है, उनकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। वे ही युग-युग में लोगों की चित्त वृत्तियों को इस प्रकार की बना देते हैं, कि लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति उस युग के कार्यों के अनुकूल हो जाती है। धर्म अधर्म दोनों ही भगवान् की इच्छा से समय-समय पर बढ़ते घटते रहते हैं।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! यह ऋषभ चरित्र अत्यन्त ही मङ्गलमय शिक्षाप्रद पावन और मनोरम है, जो पुरुष इसे श्रद्धा पूर्वक सुनते सुनाते हैं उन दोनों की ही भगवान् वासुदेव के चरणारविन्दों में भक्ति हो जाती है। भक्ति ही जीव का साध्य है यही परम पुरुषार्थ है इसी की प्राप्ति में शान्ति है सुख है। इसलिये भक्ति रूप सरिता में पण्डितजन अपने विविध पाप जनित सन्ताप से सन्तप्त अन्तःकरण को निरन्तर स्नान करते रहते हैं। उस स्नान का फल यह होता है, कि उन्हे परम शीतलता प्राप्त होती है जिसके कारण धर्म, अर्थ, काम की बात तो कौन कहे वे उस मोक्ष का भी तिरस्कार करते हैं, जिसमें भगवत सेवा कथा परिचर्या का अभाव हो। भगवती

भक्ति भगीरथी में स्नान करने से उनके सकल पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं।"

छप्पय

कोङ्क वेङ्क अरु कुटक फिरत कर्णाटक ज्ञानी।
कुटकाचल के निकट गये मुनिवर निर्मानी॥
पवन वेणु संघर्ष लगी दावानल वन महँ।
बैठे है निश्चिन्त नहीं शङ्का कछु मन महँ॥
तनु अनित्यता प्रकट हित, उपलखंड मुख महँ धर्यो।
भये लीन निज रूप महँ, दावानल महँ तनु जर्यो॥

भरत चरित का आरम्भ

[३२१]

यो दुस्त्यजान्दारसुतान् सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः ।
जहौ युवैव मलवदुत्तमश्लोकलालसः ॥*

(श्रीभा० ५ स्क० १४ अ० ४३ श्लोक)

छप्पय

ऋषभ तनय अति श्रेष्ठ ज्येष्ठ सबई पुत्रनि महँ ।
भरत नाम विख्यात भये तीनिहु भुवननि महँ ॥
न्याय धर्म तें, करें सदा पृथ्वी को पालन ।
औरस सुत सम समुझि करे सबई को लालन ।
विश्वरूप तनयासुवर, पञ्चजनी सँग व्याह करि ।
यज्ञ याग शुभ कर्म तें, आराधें नृप सदा हरि ॥

मोक्ष का महत्व वही जानते हैं, जिनकी मोक्ष हो गयी हो। जिनकी मोक्ष हो जाती है, वे लौटकर कहने नहीं आते, कि मोक्ष में यह सुख है, किन्तु कीर्ति में कितना सुख है, इसका अनुभव करने वाले बहुत लोग हैं। हमारी कीर्ति बनी रहे,

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जिन भरतजी ने पुण्यकीर्ति श्रीहरि की प्राप्ति के लिये तरुण अवस्था में ही अत्यन्त उत्सुकता के साथ स्त्री पुत्र मित्र तथा राज्य आदि का विष्ठा के समान त्याग कर दिया उनकी बराबरी कौन कर सकता है, क्योंकि इन सबका त्यागना अत्यन्त कठिन है।"

हमारा नाम स्थाई रहे, इसकी लालसा सभी को रहती है। प्रायः देखा गया है, सार्वजनिक स्थानों में धर्मशालाओं में, मार्ग के पाषाणों पर कोयले या खरिया से अपना नाम लिख देते हैं, कुछ लोग स्मृति चिन्ह बनाकर पाषाण पटल पर नाम अङ्कित कर देते हैं, कुछ अपने नाम से पाठशाला, गोशाला, पुस्तकालय, धमशाला भवन आदि बनाकर अपनी कीर्ति को स्थाई रखना चाहते हैं, किन्तु वे भूल जाते हैं, जब यह इतना यत्न से बनाया हुआ शरीर नष्ट हो गया उसका नाम न रहा, तो यह पाषाण पर अङ्कित नाम कितने दिन रहेगा। फिर भी कीर्ति के लिये सभी सतत प्रयत्न शील बने रहते हैं। कुछ लोग तो अपनी कीर्ति को स्थाई रखने को शक्ति भर प्रबल प्रयत्न करते हैं, फिर भी उनकी कीर्ति नहीं रहती, कुछ अधिक प्रयत्न न करने पर भी न चाहने पर भी नाम से अजर अमर बने रहते हैं। यह भाग्य की बात है। भागीरथजी अपने पितरों को तारने के लिये गङ्गाजी लाये थे। उन्हें लाने का प्रयत्न तो अंशुमान् और दिलीप ने भी किया तपस्या करते-करते मर गये, किन्तु यश मिला भगीरथ को आज भी भागीरथी गङ्गा सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। जिन लोगों ने मिलकर इस सागर को खोदा है, उन सगर के ६० हजार पुत्रों में से एक का भी नाम कोई नहीं जानता, किन्तु सगर के नाम से सागर तो सृष्टि के अन्त तक प्रसिद्धि प्राप्त करता ही रहेगा। इसी प्रकार भरतजी भी इतने पुण्यश्लोक, यशस्वी और कीर्तिमान् हुए कि उनके नाम से यह खण्ड भरतखण्ड के नाम से अब तक प्रसिद्ध है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! हम आपको पहिले ही बता चुके हैं, कि श्रीऋषभदेवजी के १०० पुत्रों में से भरतजी सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ थे। जब वे युवावास्थापन्न हुए तब ऋषभ-देवजी ने उन्हें युवराज पद पर अधिष्ठित किया। वे पिता के साथ

राज-काज में सहयोग देने लगे। ऋषभदेवजी ने उनका विवाह श्रीविश्वरूपजी की कन्या पञ्चजनी के साथ कर दिया। पञ्चजनी को पाकर भरतजी परम सन्तुष्ट हुए। पिता ऋषभ ने जब देखा मेरा पुत्र सर्वगुण सम्पन्न है प्रजा का पालन बड़ी कुशलता के साथ कर सकता है तो राज्य का समस्त भार उनके ऊपर छोड़कर अपने छोटे पुत्रों को उनके अधीन करके भार्या को पुत्रों को सौंपकर वे अवधूत वृत्ति धारण करके घर से निकल पड़े।

पिता के गृह त्याग के अनन्तर भरतजी इस समस्त अज खण्ड के राजा हुए। वे धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करते रहे। अनेकों वैदिक अनुष्ठान तथा यज्ञ याग करते रहे। महारानी पञ्चजनी के गर्भ से भरतजी के सुमति, राष्ट्रभृत, सुदर्शन, आवरण और धूम्रकेतु नाम के पाँच पुत्र हुए। जैसे हाथ की पाँच उँगलियाँ मिल-जुलकर सब कार्य करती हैं जैसे पञ्चभूत मिलकर इस दृश्य प्रपञ्च को रचते हैं जैसे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ समस्त तन्मात्राओं को व्यक्त करती हैं जैसे पञ्चप्राण मिलकर देह को चलाते हैं उसी प्रकार ये पाँचों भाई मिलकर भरतजी के समस्त राज्य भार को सुचारुरीति से वहन करने लगे।

महाराज भरत समस्त शास्त्रों के मर्म को जानने वाले थे। वे राजाओं के कर्तव्यों के पूर्ण ज्ञाता थे अपनी समस्त प्रजा का पालन वे औरस सुत के समान करते थे। उनके समस्त कर्म प्रभु प्रीत्यर्थ निष्काम होते थे। वे धर्म कार्यों में कभी भी वित्त शाठ्य नहीं करते थे। वे सदा यज्ञ यागों में लगे रहकर प्रभु की आराधना करते रहते थे।

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! जब भरतजी को किसी कर्म के फल की इच्छा ही नहीं थी तब फिर वे इतने आडम्बर पूर्ण यज्ञों के लिये व्यर्थ प्रयास क्यों करते थे? उन्हें यज्ञों के द्वारा स्वर्ग तो लेना नहीं था?"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"महाराज! आपका कहना सत्य है भरतजी की कामना स्वर्गादि लोकों को जीतने की नहीं थी, फिर भी उस युग में यज्ञपति भगवान वासुदेव की वर्णाश्रम धर्म के द्वारा यागों से ही पूजा करने की प्रथा प्रचलित थी।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! यज्ञ कितने प्रकार के होते हैं?"

इस पर श्रीशुक ने उत्तर दिया—"राजन्! यज्ञों के अनेक भेद हैं। फिर भी सबका समावेश ६ यज्ञों में हो जाता है। एक तो जो नित्य का अग्निहोत्र है नित्य अग्नि की उपासना है, वह प्रथम और प्रधान यज्ञ है। दूसरा यज्ञ पितरों के निमित्त प्रत्येक अमावस्या को होता है। पितरों को अमावस्या अत्यन्त प्रिय है अतः पितरों के उद्देश्य से अमावस्या को जो यज्ञ किया जाता उसे दर्शयज्ञ कहते हैं, इसके करने से अक्षय फल होता है। उस दिन अधिक न हो तो पितरों के निमित्त कुछ अन्नदान ही कर देना चाहिये। प्रत्येक मास की पूर्णिमा को जो यज्ञ किया जाता है उसे पौर्णमास यज्ञ कहते हैं। चौथा यज्ञ चातुर्मास्य कहलाता है। वर्षात के चार महीने एक स्थान पर रहकर जो विशेष नियम संयम के सहित व्रत उपवास आदि किये जाते हैं वे सब चातुर्मास्य यज्ञ के अङ्ग हैं। वर्णाश्रमी के लिये चातुर्मास्य यज्ञ आवश्यक है। ये चार तो समय-समय पर सदा करने ही चाहिये। इनके अतिरिक्त जो बड़े-बड़े यज्ञ होते हैं उनमें एक पशु यज्ञ दूसरा सोमयज्ञ कहलाता है। वे 'यज्ञ' और क्रतु भेद से दो प्रकार के हैं। जिन यज्ञों में पशु बाँधने का खम्भा होता है वे तो सामान्यतया "यज्ञ" कहलाते हैं जिसमें यह नहीं होता वे क्रतु कहलाते हैं। उनमें भी प्रकृति और विकृति रूप से दो भेद हैं। जिनमें यज्ञ के सम्पूर्ण अङ्गों का विधान हो ऐसे साङ्गोपाङ्ग यज्ञों की संज्ञा प्रकृति है। जिनमें न्यूनाधिक्य रूप से अङ्गों का विधान हो वे विकृत कहलाते हैं। यजमान यज्ञों को होता

(ऋग्वेदीय) अध्वर्यु (यजुर्वेदीय) उद्गाता (सामवेद गान करने वाला) और ब्रह्मा (अथर्ववेदीय) इन चार ऋत्विजों की सहायता से श्रद्धापूर्वक सम्पन्न कर सकता है सदस्य यज्ञ में उपस्थित रह-कर उसका अवलोकन करते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न यज्ञों का अङ्ग और क्रियाओं के सहित अनुष्ठान किया जाता है। जो यज्ञ जिस देवता के नाम से किया जाता है उस देवता का उस यज्ञ में प्राधान्य होता है शेष सब देवताओं का समान्य रूप से पूजन होता है। जो यज्ञ जिस कामना से किया जाता है वह उसी के फल को उत्पन्न करता है और मृत्यु के अन्नतर यज्ञकर्ता अपनी भावना के अनुसार उन-उन लोकों में जाकर उनके फलों का उपभोग करता है।

राजा ने पूछा—"भगवन्! कैसे भी करें यज्ञों का फल तो स्वर्ग होगा ही। हम स्वेच्छा से अग्नि का स्पर्श करें या अनिच्छा से शरीर को तो जला ही देगी। फिर निष्काम कर्म का अर्थ ही क्या हुआ? कर्म तो सभी सकाम ही होते हैं, बिना कामना से तो कर्मों में प्रवृत्ति ही होनी असंभव है।"

श्रीशुक बोले—"महाराज आपका कहना यथार्थ है। सामान्य नियम यही है कि कर्मों में प्रवृत्ति कामना से ही होती है। अग्नि इच्छा अनिच्छा से स्पर्श करने पर जला ही देती है किन्तु अकर-करा आदि कई ऐसी ओषधियाँ हैं जिन्हें युक्तिपूर्वक हाथ में लगा लेने से अग्नि रख देने पर भी हाथ नहीं जलता इसी प्रकार सब कर्म करते हुए यादि वे एकमात्र प्रभुप्रिति के उद्देश्य से ही किये जायँ तो वे निष्काम कर्म बन्धन के हेतु नहीं होते।"

राजा ने कहा—"महाराज! यह बात तो मेरी बुद्धि में बैठती नहीं। अब जैसे यजमान यज्ञ कर रहा है। अध्वर्यु ने हाथ में हवि लेकर मन्त्र पढ़ा 'इन्द्राय स्वाहा' यह हवि इन्द्र के लिये है। अब इन्द्र इस हवि को ग्रहण करके भावनानुसार फल

देगा ही। यज्ञ भाग प्राप्त करके इन्द्रदेव यजमान को स्वर्ग देंगे ही। स्वर्ग में स्वर्गीय सुख अप्सराओं के साथ विमानों में विहार आदि मिलेंगे ही। इन्द्र का हवि खाकर स्वर्ग देना कर्तव्य ही हो जाता है। नहीं तो यज्ञ करना व्यर्थ ही है, फिर निष्काम कहाँ रहा ?"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"राजन्! सब कार्यों में भावनानुसार ही फल प्राप्त होता है। जैसी जिसकी भावना होती है वैसा उसे फल प्राप्त होता है। आप कितने भी बड़े-बड़े यज्ञ करें दान दें धर्म करें यदि आपका भाव शुद्ध नहीं है तो सब व्यर्थ हैं। माता का, बहिन का, पुत्री की स्त्री का शरीर एक-सा है। सबके अङ्ग एक से हैं किन्तु भावना के अनुसार एक से आलिङ्गन करने पर भी फल में अन्तर पड़ जाता है। माता का आलिङ्गन दूसरे भाव से करते हैं बहिन तथा पुत्री का दूसरी भावना से और स्त्री का अन्य ही भावना से। क्रिया एक ही है किन्तु भावना की विभिन्नता से फल में अंतर हो जाता है। इसी प्रकार भरतजी यज्ञ करते तो थे उन्हीं वेद मन्त्रों से उसी प्रकार की वैदिक क्रियाओं से, किन्तु अपना भाव पृथक् रखते थे जैसे आचार्य ने मन्त्र पढ़ा। इन्द्राय स्वाहा, सूर्याय स्वाहा। इस पर भरतजी भावना करते इन्द्र 'कौन है जिसमें सम्पूर्ण स्वर्गीय सम्पत्ति के उपभोग और रक्षा की शक्ति हो, जो ऐश्वर्य सम्पन्न हो।' तब वे सोचते थे इन्द्र में यह शक्ति कहाँ से आई। उनमें तो ऐश्वर्य का एक अंश है। ऐश्वर्य के स्रोत तो परमदेव, परब्रह्म, यज्ञ पुरुष भगवान् वासुदेव ही हैं। अतः इन्द्र स्वरूप जो भगवान् हैं उनके लिये यह हवि देता हूँ। इस भावना से वज्र हाथ में लिये हुए पुरन्दर के पास में हवि पहुँचने पर भी उसके श्रीहरि ही हो गये। जैसे हम किसी पत्र पर पता लिखते समय लिख देते हैं उनके द्वारा यह पत्र अमुक के पास पहुँचे। ऐसा लिखने से पहिले पत्र

पहुँचता तो उसी पास है जिनके द्वारा भेजा गया हो, किन्तु वह उस पत्र को पाकर भी अपना नहीं समझता अपने पास नहीं रखता। उसी को जाकर उस पत्र को दे देता है, जिसके निमित्त से वह भेजा गया है। इसी प्रकार भगवद् भावना को हृदय में रखकर चाहें जिस देवता का नाम लेकर हवि दी जाय, पहुँचेगी भगवान् के ही पास। ऐसे ही अन्य देवताओं के लिये समझ लें। "सूर्याय स्वाहा" तो सूर्य का कार्य है प्रकाश देना। सूर्य को प्रकाश कहाँ से मिलता है? भगवान् से। इसलिये सूर्य को विराट भगवान् का नेत्र बताया है। जहाँ सूर्य का ध्यान करके हवि देने को मन्त्र पढ़ा वहीं ध्यान कर लिया कि भगवान् के नेत्र रूप जो सूर्य हैं उन्हें ही यह आहुति मिले। ऐसी भावना से किये हुए कर्म अकैतव कर्म कहाते हैं। कैतव कर्म उन्हें कहते हैं जो थोड़ा देकर बहुत फल की आशा से किये जाते हैं। जैसे 'हे देव! मैंने यह फल आपको अर्पण किया है, इससे मेरी सभी कामनायें जन्मान्तरों में पूरी होती रहें। सांसारिक फलों की इच्छा से इसी प्रकार के किये कर्म सकाम कहलाते हैं। इन कर्मों से तो संसार बन्धन और दृढ़ होता है। निष्काम कर्मों से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। शुद्ध हुए अन्तःकरण में पीतवसनधारी, बनवारी विहारी, शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारी मुरारी श्रीवत्स चिन्ह के मध्य में कौस्तुभ मणि को चमचमाते हुए, हृदय के अन्धकार को मिटाकर प्रकाशित हो जाते हैं। जहाँ सर्वव्यापक पुराण पुरुष प्रभु हृदय में आविर्भूत हुए, फिर कहने की कोई बात ही नहीं रह जाती। दिन-दिन उनके चरणारविन्दों में भक्ति बढ़ने लगती है। बढ़ी हुई भक्ति समस्त अशुभों को, कर्म बन्धनों को काटकर जीव को भगवान् के समीप पहुँचा देती है। तदीय बना देती है सो, राजन्! इसी भावना से भरतजी यज्ञ याग किया करते थे।"

इस प्रकार भरतजी निष्काम कर्म करते हुए १० हजार वर्ष

तक पृथ्वी का पालन करते रहे अब उन्होंने समझ लिया, कि राज्य को भोगने का मेरा प्रारब्ध कर्म समाप्त हो गया। उन्हें राजभोगों में आसक्ति तो थी ही नहीं। यह सोचकर कि प्रारब्ध कर्मों का तो भोग के द्वारा ही क्षय होगा, वे राज का भोग करते रहे। जब यह प्रारब्ध भोग से क्षय हो गया, तो उन्होंने गृहत्याग कर वन में जाकर तपस्या करने का विचार किया।

छप्पय

अग्निहोत्र नित करें दर्श अरु पूर्णमास मख।
चातुर्मास्य अनेक करें सम समुझि दुःख सुख॥
सोमयज्ञ पशुयज्ञ प्रकृति अरु विकृति भेद तें।
करें क्रिया के सहित भाव अरु विधी वेदतें॥
सब अमरनि कूँ अंश लखि, अंशी हरिकूँ जानिकें।
देहिं यज्ञ को भाग नृप, प्रभु स्वरूप सब मानिकें॥

भरतजी का पुलहाश्रम में जाकर तप करना

[३२२]

परोरजः सवितुर्जातवेदो
देवस्य भर्गो मनसेदं जजान।
सुरेतसादः पुनराविश्य चष्टे
हंसं गृध्राणं नृषद्रिङ्गिरामिमः ॥*

(श्रीभा० ५ स्क० ७ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

भरत भूमिपति दुरित दूरि सब करें यज्ञ करि।
भोगनि तें करि पुण्य नाश आराधें श्रीहरि॥
राज भोग को अन्त निरखि नृप वनहिं सिधाये।
पावन हरिहर क्षेत्र, पुलह आश्रम महँ आये॥
मिलें गण्डकी गंग जहँ, तहँ अराधें ईश कूँ।
तुलसीदल जल फूलफल, तें पूजें जगदीश कूँ॥

जीव का एकमात्र प्रधान कर्तव्य है कृष्ण कैंकर्य। कृष्ण कैंकर्य के अतिरिक्त जो भी पुरुष करता है वह अपने हाथों

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भरतजी हरिहर क्षेत्र में जाकर भगवान् सूर्यनारायण कि इस मन्त्र के द्वारा उपासना करने लगे भगवान् सविता देवता का तेज कर्मफलदायक तेज रज से—प्रकृति से—परे हैं इस जगत् को उन्होंने मन से ही उत्पन्न किया है। वे ही इस जगत् में प्रविष्ट होकर सुखेच्छु जीवों की रक्षा करते हैं। हम उसी बुद्धि प्रवर्तक तेज को प्राप्त हों।

अपना बन्धन तैयार करता है। सिद्धांत तो यह है स्वाँस-स्वाँस पर कृष्ण कहो। कृष्ण नाम के अतिरिक्त वाणी से दूसरा शब्द न बोलो। कृष्ण नैवेद्य के अतिरिक्त अमृत को भी मत खाओ। कृष्ण कथा को छोड़कर कुछ भी श्रवण न करो। भगवत् प्रतिमायें तथा भागवतों को छोड़कर किसी को भी मत देखो। कृष्ण निर्माल्य के अतिरिक्त न किसी को सूँघो न अङ्ग में स्पर्श करो। सारांश जो कुछ करो, जो खाओ, जो पिओ, जो यज्ञादि शुभ कर्म करो, जो सुवर्ण, गौ, अन्न, वस्त्र, धन, धान्य दान करो कृष्ण प्रीत्यर्थ ही करो। प्रारब्धवश संसार में रहकार विवशता से संसारी भोग भोगने पड़े तो दीन होकर उन्हीं से प्रार्थना करो प्रभो! मुझे इन कर्मों से छुड़ाओ मुझे दास जान के अपनाओ। दीन हीन को अपने पादपद्मों का किंकर बनाओ। ये संसारी भोग जितनी भी शीघ्रता से जितनी भी मात्रा में छूट सकें, निरन्तर इन्हें छोड़ने का प्रयत्न करते रहो, इसी में जीवों का कल्याण है वही मुक्ति का सरल सुगम मार्ग है, यही प्रभु प्राप्ति का पुनीत पन्थ है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! ज्ञान दृष्टि से जब भरत जी ने विचार किया, कि मेरा राज्य सुख का प्रारब्ध समाप्त हो चुका है। अब तो मुझे दिव्य राज्य के लिये प्रयत्न करना चाहिये। यह सोचकर उन्होंने अपने पाँचों पुत्रों को बुलाया। धर्म का मर्म समझाया, अपने वन जाने का विचार बताया। इस प्रकार पुत्रों को सभी प्रकार समझाकर सभी बात बताकर वे समस्त राजपाट को तृणसम त्यागकर, आज्ञाकारी सुशील सुन्दर सुकुमार मृदुभासी विनयशील पुत्रों का मन से मोह त्याग कर पत्नी को पुत्रों को सौंपकर घर से निकल पड़े।

महाराज भरत उत्तर दिशा को न जाकर पूर्व दिशा की ओर चले। जहाँ पर भगवती गण्डकी सरिता श्रेष्ठ सुरसरि भगवती

भागीरथी से मिली हैं, उस स्थान में पहुँच कर उनका मन स्वतः ही खिंचने लगा। चक्र नदी में उन्होंने भगवान् शालिग्राम की अनेकों प्रकार के चिन्हों युक्त बटियों को देखा। शालिग्राम शिलाओं के अनेक भेद हैं। बहुत-सी शिलायें चक्राकार होती हैं जिनके दोनों ओर नाभि के समान चिन्ह होते हैं। कोई-कोई ठोस होते हैं, कोई अवतार चिन्हों से चिन्हित होते हैं कोई-कोई गोल-गोल हो जाते हैं जो हिरण्यगर्भ कहलाते हैं। ये सब गंडकी नदी में ऊपर से बह-बहकर आते हैं। भरतजी ने देखा वहाँ एक ऋषी का टूटा फूटा आश्रम था। पूछने से पता चला, यहाँ कभी ब्रह्मपुत्र भगवान् पुलह ने तप किया था, इसीलिये यह अब तक पुलहाश्रम के नाम से प्रसिद्ध है। भरतजी का चित्त उस पुनीत हरिहर क्षेत्र में रम गया। वे पुलहाश्रम के उपवन के समीप एक एकान्त स्थान देखकर वहीं रहने लगे। उन्होंने एक पर्ण कुटी बना ली। भगवान् शालिग्राम की सुन्दर-सुन्दर बटियाओं को लाकर उन्होंने पूजा, पीठ पर उनकी स्थापना की और बड़ी श्रद्धा भक्ति से उनकी सेवा करने लगे। यद्यपि वे अब तक सम्राट थे। अन्तःपुर में सहस्त्रों दास दासियों से घिरे रहते थे अपने हाथ से काम करने का उन्हें अभ्यास नहीं था, किन्तु भगवत् सेवा के लिये वे स्वयं ही सभी संभारों को जुटाते थे। वन में जाकर वे वहाँ से सुन्दर-सुन्दर पुष्प हरी-हरी तुलसी, कोमल-कोमल दूर्वा भगवान् की पूजा के लिये लाते थे। नैवेद्य के लिये वृक्षों से पके फल लाते थे, कन्दमूल खोदकर लाते थे। अपने हाथ से गण्डकी से जल ले आते, सारांश यह है कि स्वयं ही वे सब काम करते थे।

प्रातःकाल उठते ही वे विष्णुस्मरण करते, पुनः शौच स्नानादि कर्मों से निवृत्त होकर सन्ध्यावन्दन करते। तदनन्तर वे भगवत् परिचर्या में लग जाते, षोडशोपचार से पूजा करते

कन्दमूल, फल, फूल, जल तथा तुलसी पत्र आदि समर्पित करके निरन्तर उन्हीं के ध्यान में लग्न रहते थे। इस प्रकार प्रेमपूर्वक पूजा करते रहने से उनका अन्तःकरण सम्पूर्ण अभिलाषाओं से निवृत्ति हो जाने से शान्त बन गया। जिस समय वे प्रेम में भरकर भगवान् की सेवा पूजा करते उस समय आनन्द से उनका हृदय परिप्लावित हो जाता, उन्हें प्रेम समाधि लग जाती। वे नित्य ही नियम पूर्वक अव्यग्र भाव से श्रद्धासहित भगवत् पूजन करते थे। नित्य नूतन बढ़ते हुए अनुराग के कारण उनके हृदय का कठोरपन नष्ट हो गया। अन्तःकरण मोम से भी अधिक द्रवित और नवनीत से भी अधिक कोमल हो गया। प्रभु प्रेम में जिनका हृदय अत्यन्त द्रवीभूत होने लगता है वे भावुक भक्त लौकिक व्यवहार के अयोग्य से बन जाते हैं। जहाँ भगवान् की चर्चा छिड़ी वहीं हृदय से आनन्द का स्रोत उमड़ने लगता है, सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित हो जाता है, नेत्रों से झर-झर अश्रु बहने लगते हैं। ऐसी दशा बड़े भाग्य से—अनेक जन्मों के पुण्य कर्मों से—प्राप्त होती है। भरतजी की ऐसी ही दशा हो गयी थी। कभी-कभी तो वे प्रेम में निमग्न होकर ऐसे वेसुधि हो जाते थे, किन्तु उन्हें संसार का भान ही न रहता। कण्ठ गद्‌गद् हो जाता। नेत्रों में नीर भर जाने से उनकी दृष्टि रुक जाती, सम्मुख खड़े पुरुष को भी वे नहीं देख सकते थे।

कुछ काल के पश्चात् तो उनकी स्थिति और भी ऊँची हो गई। वे पूजा करते-करते अपने आपे को भूल जाते थे। अर्घ्य दे रहे हैं तो घड़ियों अर्घा को ही हाथ में लिये बैठे हैं पुष्प चढ़ाने के पश्चात् फिर से पाद्य अर्घ्य आचमन दे रहे हैं। ध्यान में ऐसे निमग्न हो जाते, कि पूजा के क्रम को ही भूल जाते।"

इस पर राजा परीक्षित ने पूछा—"प्रभो! बहुत-सी बातों को

स्मृति हीन जड़ पुरुष भी भूल जाते हैं, तो क्या वे भी महात्मा हैं ?"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"नहीं, महाराज ! वे तो तमगुण के आधिक्य से स्मरण नहीं रख सकते। घोर तमोगुण की और घोर सत्वगुण की स्थिति दूर से देखने पर प्रायः एक-सी ही जान पड़ती हैं। तमोगुणी भी आलस्य में निश्चेष्ट पड़ा रहता है और सत्वगुणी भी निष्क्रिय हो जाता है, किन्तु एक स्थिति अज्ञान-जन्य है दूसरी ज्ञान-जन्य। जड़मति पुरुष बुद्धि की न्यूनता से-तम के प्रभाव से बातों को भूल जाते हैं, किन्तु भरत जैसे भगवद्भक्त तो अपने परम प्रेमास्पद श्रीश्यामसुन्दर के अरुण चरण कमल के निरन्तर ध्यान से प्राप्त भक्तियोग के द्वारा परमानन्द से लबालब भरे हुए हृदय रूप गम्भीर सरोवर में बुद्धि के निमग्न हो जाने से वाह्य क्रियाओं की बात को कौन कहे, अपने आप तक को भूल जाते हैं, वे आनन्द का अनुभव करते-करते तद्रूप हो जाते हैं। इसलिये भरतजी वाह्य पूजा को भूलकर पूज्य के पादपद्म के ध्यान रूप अर्चन में ही तल्लीन हो जाते थे।

वे वन में रहकर मुनिव्रत का पालन करते थे। राजसीय वस्त्रों का उन्होंने परित्याग कर दिया था, वे वल्कल वस्त्र पहिनते काले हिरन का मृग चर्म ओढ़ते। वन में अपने आप गिरे फलों को लेकर भगवान् का भोग लगाकर उसी नैवेद्य को पाते। उनके काले-काले घुँघराले बाल तैल आदि के न लगाने से परस्पर में चिकट गये थे जिससे वह लटा रूप में परिणित हो गये थे। उनके तेजस्वी मुख मंडल पर वे लटायें वक्र होकर लटकती तो ऐसा प्रतीत होता था मानों चन्द्रमा के ऊपर अमृत पान करने को काले सर्प चढ़ रहें हों। सूर्य मण्डल के उदय होते ही वे सूर्य सम्बन्धिनी ऋचाओं को पढ़कर हिरण्यमय पुरुषोत्तम भगवान्

सूर्यनारायण के सम्मुख खड़े होकर उनकी प्रार्थना करते उनकी शरण में जाते उनके गुणों का गान करते, उनकी महत्ता बताते। इस प्रकार तेज स्वरूप नारायण का ध्यान करते-करते उन्हें वन-वास करते हुए बहुत दिवस व्यतीत हो गये।

छप्पय

पूजा तें अनुराग हृदयमहँ बढ़्यो प्रबल अति।
प्रियतम के पद पद्म माँहिँ उरझी उनकी मति॥
पूर्यो पय आनन्द हृदय सर बुद्धि डुबाई।
भये प्रेम महँ मग्न बाह्य पूजा बिसराई॥
कुटिल अलक लट बनि गये, जटा जूट को मुकुट सिर।
भक्तराज बनि आ नहीं, कियो कृष्ण महँ चित्त थिर॥

भरतजी और मृगशावक

(३२३)

नित्यं ददाति कामस्यच्छिद्रं तमनु येऽरयः ।
योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली ॥*

(श्री भा० ५ स्क० ६ अ० ४ श्लोक)

छप्पय

ऐसें पूजा करत बिताये नृप बहु वत्सर ।
करें नियम व्रत नित्य रहें पूजा महँ तत्पर ॥
इक दिन मज्जन हेतु भरत सरिता तट आये ।
पढ़े वेद के मन्त्र गंडकी जल महँ न्हाये ॥
सन्ध्या करि नृप जप करहिँ, कूल छटा मन भाविनी ।
सुनी सिंह ध्वनि मृगी इक, पार निहारी गर्भिनी ॥

इस मन में अनेक जन्मों के संस्कार भरे पड़े हैं, उनका सम्बन्ध काल के साथ है । किस काल में कौन से सम्बन्ध जागृत

---

* श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित से कहते हैं—"राजन् ! योगियों को इस दुष्ट मन पर कभी विश्वास न करना चाहिये । जैसे व्यभिचारिणी स्त्री पहिले तो पति पर प्रेम प्रकट करके अपना विश्वास उत्पन्न करा लेती है, पीछे जार पुरुषों को अवकाश देकर उसे नष्ट करा देती है, वैसे ही जो योगी मन पर विश्वास कर लेते हैं, उनका मन काम और उनके अनुयायी लोभ मोहादि शत्रुओं को अवकाश देकर उसे साधन से च्युत कर देते हैं ।"

हो उठें कुछ निश्चय नहीं। जो लोग महलों को त्याग गये, वे अंत में एक झोपड़ी के लिये लड़ पड़े। जिनके घर में प्रतिव्रता, सुशीला, सत्कुलप्रसूता पतिपरायणा पत्नी है उसे त्यागकर पुंश्चली वेश्या के फंदे में फँस जाते हैं, इसे दैव की विडम्बना के अतिरिक्त क्या कह सकते हैं? जीव इस प्रारब्ध से अवश हो जाता है। जो मन कल तक जिस वस्त्र को हेय समझता था, वही आज संस्कारों के अधीन होकर उसमें प्रियत्व की, निजत्व की भावना कर बैठता है। इसीलिये यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि हमारा मन वश में हो गया, अब हमें साधना की आवश्यकता नहीं। सिद्धान्त यही है कि जीवन पर्यन्त मन का विश्वास न करे, सदा इस पर अंकुश लिये चढ़ा रहे। जहाँ इसकी रस्सी ढीली की नहीं वहीं यह उछल कूद मचाने लगता है। अनित्य में नित्य की, अप्रिय में प्रिय की, परत्व में निजत्व की भावना करने लगता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज भरत वानप्रस्थाश्रम में रहकर यम नियमों का पालन करते हुए, भगवत् परिचर्या में निमग्न रहने लगे उनकी बहुत उच्चावस्था हो गयी, उन्हें जगत् की प्रायः विस्मृति सी हो गयी।"

एक दिन की बात है, कि महाराज भरत हाथ में जलपात्र लिये कक्ष में कुशासन, मृगचर्म, वल्कल दबाये गण्डकी में प्रातः स्नान करने गये। अरुणोदय की वेला थी। वृक्षों पर बैठे पक्षी चहचहा रहे थे। भगवान् भुवनभास्कर अपने लूले सारथी को आगे भेजकर अपने आगमन की घोषणा करा रहे थे। गण्डकी का जल मन्थर गति से गङ्गाजी की ओर प्रवाहित हो रहा था। उसी शान्त बेला में राजर्षि भरत सरिता कूल पर पहुँचे। गंडकी के पश्चिम तट पर आसन वल्कल रखकर उन्होंने स्नान संबन्धी मन्त्र पढ़े, फिर संकल्प करके उन्होंने मृतिका लगायी और विधि-

वत् स्नान किया। स्नान करके उन्होंने प्रातःकालीन सन्ध्या का अर्घ्य दिया। इतने में ही अम्बर के पट को उठाकर भगवान् मरीचिमाली जगत् के प्राणियों को झाँकने लगे। भरतजी ने उपस्थान द्वारा सूर्य का सत्कार किया, पुनः वे जल में खड़े होकर तीन मुहूर्त तक एकाक्षर प्रणव मन्त्र का शान्त चित्त से जप करते रहे। वे नेत्र बन्द करके नदी में खड़े भगवान् के ध्यान में तल्लीन हो रहते थे। ब्रह्म के वाचक प्रणव का जप करते हुए वे उसके अर्थ की अव्यग्र भाव से भावना कर रहे थे। उसी समय उनकी आँखें खुल गयीं। आँखें खुलते ही वे क्या देखते हैं, कि एक मोटी ताजी हरिणी एकाकी खड़ी अपनी चञ्चल दृष्टि से इधर-उधर भयभीत हुई निहार रही है। शङ्कित चित्त से कुछ काल वह स्वभाव भीरु मृगी कान लगाकर कुछ सुनती रही और फिर शनैः-शनैः सरिता के समीप आकर सुस्वादु सलिल का पान करने लगी। प्रतीत होता था, वह चिरकाल से प्यासी थी, किसी अघटित घटना के कारण वह अपने यूथ से भ्रष्ट हो गयी थी। गंडकी के मधुर जल को उसने पेट भर के पीया। इतना अधिक जल पीने से उसकी दोनों कोखें फूल गयीं वह आवश्यकता से अधिक मोटी प्रतीत होती थी। उसके बढ़े हुए पेट से प्रतीत होता था वह गर्भिणी है और शीघ्र ही प्रसव करने वाली है। उस बड़े-बड़े चञ्चल नेत्रों वाली गर्भिणी हरिणी को राजर्षि भरत देखते-के-देखते ही रह गये। मुख से तो एकाक्षर मन्त्र का उच्चारण हो रहा था और दृष्टि उस मृगी की ओर लगी थी। एक बार पानी पीकर वह इधर-उधर देखकर फिर पानी पीने लगी। सहसा दशों दिशाओं को गुञ्जाती हुई सिंह की भयानक दहाड़ उसे सुनायी दी। मृगबाला एक तो स्वभाव से ही भीरु होती है दूसरे वह एकाकी थी, अकस्मात् सिंह के शब्द को सुनकर वह चौंक पड़ी। घबड़ा गयी, किंकर्तव्यविमूढ़ा-सी बन गयी। उसे ऐसा प्रतीत

हुआ, मानों सिंह मेरे सिर पर ही आ गया है। आत्मरक्षा का और कोई भी उपाय न देखकर उसने अपना सम्पूर्ण बल लगा कर एक छलाँग मारी। उसने सोचा होगा मैं छलाँग मारकर गण्डकी के पार पहुँच जाऊँ तो सिंह के भय से वच जाऊँगी। सिंह उस पार तक मेरा पीछा न करेगा जब प्राणी के प्राणों पर आ बनती है, तो वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर निःशेष बल को व्यय करके जीवन की रक्षा पर उतारू हो जाता है। हरिणी सम्पूर्ण बल के साथ उछली तो अवश्य, किन्तु उछलने से उसके गर्भ का शिशु अपने स्थान से हट गया। स्थान से हटते ही योनि द्वार से निकलकर बीच में ही नदी के प्रवाह में पतित हो गया। हरिणी ने अपना सम्पूर्ण बल लगाया था अतः गर्भपात होने से वह मूर्छित हो गयी और उसी मूर्छितावस्था में पर्वत की एक गुफा के पाषाण खंड पर धड़ाम से गिर पड़ी और गिरते ही मर गयी।

राजर्षि भरत यह सब चरित अपनी आँखों से देख रहे थे। मरी हुई हरिनी को तो उन्होंने देखा नहीं, नदी के तीक्ष्ण प्रवाह में वहते हुए उस मृगशावक को उन्होंने देखा। देखते ही उनके हृदय में दया आ गयी। शीघ्रता से बिना सोच विचार किये ही वे आगे बढ़ गये और बहते हुए बच्चे को लपककर पकड़ लिया भोला भाला मृग शिशु अपने रक्षक उन राजर्षि की ओर दया भरी दृष्टि से अपलक होकर निहारने लगा। उस अनाथ बच्चे की भयभीत कातर दृष्टि को देखकर भरतजी का हृदय दया से भर गया। उन्होंने अपने वल्कल से बच्चे का अङ्ग पोंछा और वे उसकी माता की खोज में चले। सामने ही उन्होंने मृतकावस्था में पड़ी हुई हरिनी को देखा। अब तो राजर्षि बड़ी चिन्ता में पड़े। भगवान् ने मुझे इस बालक को दीन हीनावस्था में सौंपा है। अब इसे किसके हाथों सौंपूँ। यहाँ अकेला इसे छोड़ जाऊँगा

तो सिंह व्याघ्र खा जायँगे उनसे किसी तरह बच गया तो कोई व्याधा पकड़ ले जायगा और काटकर बेच देगा। कैसे करें, इसकी रक्षा का एक ही उपाय है, इसे आश्रम पर ले चलें। बड़ा हो जायगा, तब इसे छोड़ देंगे। इस अरण्य में मैं ही इसका शरण्य हूँ। इसका पालन-पोषण मुझे आत्मीय स्वजन की भाँति करना चाहिये। बच्चे तो स्वभाव से ही प्यारे होते हैं, तिस पर भी वह दुःखी था, विपत्ति में फँसा था, सद्यःजात मृगशावक था, भरतजी उसे बड़े स्नेह से सम्हालकर अपने आश्रम पर ले गये। जाकर उन्होंने जलपात्र रख दिया। वल्कलों को फेंक दिया। गोदी से बच्चे को उतारा। धूप में बिठाकर उसके शरीर को गरम किया। हाथों से धीरे-धीरे खुजलाया और पास में ही खड़ी कोमल-कोमल दूब के कुछ पत्ते लाकर उसके मुख में देने लगे। उस मृगी तनय ने जीभ से उन तृणों को चाटा और उगल दिया। भरतजी ने अपनी उटज के एक कोने में सूखी घास पर बिठा दिया। सायंकाल पानी पिलाया तो उसने पी लिया।

दूसरे दिन फिर भरतजी ने घास खिलाई उसने खा ली। अब तो वह घास खाने लगा। दो चार दिन में इधर-उधर घूमकर अपने नन्हें-नन्हें दाँतों से घास को स्वयं काट-काटकर चबाने लगा। अब तो भरतजी को बड़ा आनन्द हुआ। यहाँ शान्त एकान्त अरण्य में एक भोला भाला साथी मिल गया खेलने को सजीव सुन्दर खिलौना मिल गया। वे उसे गोद में लेकर खेलने लगे।

मन तो एक ही है उसे चाहे भगवान् की चिन्ता में लगा लो या मनोरंजन के लिये आत्मीय व्यक्तियों की भरण-पोषण की चिन्ता में फँसा लो। पहिले तो भरतजी को उठते ही भजन पूजन, भगवत् स्मरण, जप, समाधि की चिन्ता होती थी, अब उठते ही उस मृगशावक की सुविधा की ओर चित्त जाता। यह दुबला

क्यों हो रहा है। यह सुस्त क्यों है, इसके प्रति इतना प्रेम प्रदर्शित करना चाहिये कि यह अपनी माता का स्मरण ही न करे। यह प्राणी किसी के प्रेम के सहारे जीता है। इस अनाथ बालक को जन्म से ही किसी का प्रेम प्राप्त नहीं हुआ। इसलिये मैं इसे प्रेम में डुबा दूँगा। इस अरण्य में भी भगवान् ने मेरा एक साथी भेजा है। इसके लिये मैं अपने हृदय के द्वार को मुक्त कर दूँ। यह सोचकर वे उसके मुँह को चूमते, उसके बदन को शनैः-शनैः खुजलाते, उसके अङ्गों पर हाथ फेरते। हरी दूब लाकर स्वयं खिलाते। अब उसके छोटे-छोटे सींग निकल आये थे इसलिये उनसे वह भरतजी के शरीर में हुड्डु मारता उनकी गोदी में अपना मुख रख देता। विनयी पुत्र की भाँति उनके पीछे-पीछे चलता। प्राणी को जिससे भी प्रेम प्राप्त होता है उसी के हाथों बिक जाता है। इसी प्रकार भरतजी उस हरिन के बच्चे के मोह में फँस कर भगवत् भजन को तो गौण समझने लगे हरिन का लालन-पालन ही उनका मुख्य कर्तव्य हो गया। अब तक १०० माला जपते थे, कुछ दिन में ५० फिर १० फिर ५ फिर माला झोली सब छूट गयी। यम, नियम सब भूल गये। हाय मेरा बच्चा हाय मेरा मुनुआ यही करते-करते उनका समय बीतने लगा।

यह सुनकर शौनकजी कहने लगे—"सूतजी! हरिन के बच्चे के पीछे भरतजी ने सब यम नियमों को क्यों छोड़ दिया, आश्रम में पशु पक्षी भी तो रहते ही होंगे, वैसे ही हिरन का बच्चा पड़ा रहता। इसके लिये भजन पूजन छोड़ने की क्या आवश्यकता थी?"

इस पर हँसते हुए सूतजी बोले—"भगवन्! जीवों की एक-सी स्थिति नहीं रहती, या तो वह उन्नति की ओर अग्रसर होता है या गिरता है तो फिर पतन की ओर ही बढ़ता जाता है। नियमों का कड़ाई के साथ पालन किया जाय तब तो उन्नति होती है।

जहाँ नियमों में तनिक भी ढिलाई की फिर नियम सधते नहीं। मन को तो कुछ बहाना चाहिये, संसार के प्रवाह में बहने का तो इसका जन्म-जन्मान्तरों का स्वाभाव है उसे सिखाने की आवश्यकता नहीं। भगवान् की ओर इसे वलपूर्वक यत्न से कठिनता के साथ लगाना पड़ता है। जैसे नीची पृथ्वी में जल अपने आप वहने लगता है। ऊँची भूमि में प्रयत्नपूर्वक युक्तियों से चढ़ाया जाता है। जहाँ तनिक भी नियम में ढिलाई हुई कि फिर नीचे की ओर ही वहने लगेगा। जो अपने वस्त्रों की स्वच्छता पर सदा ध्यान रखता है, मैले न होने देने के लिये निरन्तर सचेष्ट वना रहता है, वह तो वस्त्रों को स्वच्छ बनाये रखता है। किन्तु जहाँ तनिक भी मैले हुये और उनकी उपेक्षा की तो फिर रही सही स्वच्छता को भी खो बैठता है। सोचता है—मैले तो हो ही गये अब क्या है, अवसर पड़ने पर धो लेंगे। इस विचार से वह कूड़े कर्कट में भी जहाँ तहाँ बैठ जाता है। एक बार नियम छोड़ा कि फिर आदमी गिरता ही जाता है इस विषय में आपको एक दृष्टान्त सुनाता हूँ।

किसी एक व्यक्ति ने किसी संन्यासी को मांस खाते हुए देखा। उसने अत्यन्त आश्चर्य के सहित पूछा—"अरे, साधु बाबा! तुम संन्यासी होकर मांस खाते हो?"

उसने अत्यन्त ही उपेक्षा के स्वर में कहा—"हाँ, भाई! खाते तो हैं, किन्तु मांस का स्वाद तो शराब के साथ है। बिना सुरा के मांस में उतना आनन्द नहीं आता।"

उस व्यक्ति ने अवाक् होकर पूछा—"तो क्या देवता जी! आप सुरापान भी करते हैं?"

उस साधु ने विवशता के साथ कहा—"वैसे तो मैं सुरापान नहीं करता। अकेले आनन्द भी नहीं आता। हाँ वेश्याओं के

पास जाता हूँ तो वहाँ सबके साथ मिलकर पीने में बड़ा सुख प्रतीत होता है।"

उस व्यक्ति ने माथा ठोकते हुए कहा—"निर्लज्जता की भी सीमा होती है बाबाजी महाराज ! कोई कुकर्म आप से छूटा भी है या नहीं ! किन्तु मुझे आश्चर्य इस बात पर हो रहा है, कि वेश्यायें तो बिना पैसे के बात भी नहीं करतीं, आपके पास उन्हें देने को पैसा कहाँ से आता है ?"

साधु ने दीर्घ निःश्वास लेते हुए कहा—"भैया ! न मैं नौकरी करता हूँ न व्यापार। खेती मेरे होती नहीं। पैसा की आवश्यकता होती ही है इसलिये चोरी करता हूँ, जुआ खेलता हूँ, उससे जो द्रव्य मिलता है उसी से अपने व्यसनों को पूरा करता हूँ।"

उस व्यक्ति ने घृणा के भाव से कहा—"छिः-छिः, राम-राम ! साधु का वेष बनाकर चोरी करते हो। इतना पाप कमाते हो ?"

विवशता के स्वर में साधु ने कहा—"भैया ! जिसने एक बार अपना सदाचार खो दिया, फिर वह नीचे गिरता ही जाता है। जो नष्ट हो गया है, उसकी और क्या गति हो सकती है ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! नियम जब तक दृढ़ता से पालन होते रहते हैं, तभी तक उनकी रक्षा होती है, जहाँ शिथिलता आयी, कि समाप्त हो गये। एक वैष्णव थे, माता-पिता के संस्कारों से उन्हें मांस से बड़ी घृणा थी। उनका एक साथी मांसाहारी था। वह मांस की बहुत प्रशंसा किया करता था। ये उसे बहुत डाँटते थे। कई दिन उसने छिपकर साग में मांस रस मिलाकर उसे भूल में खिला दिया। अब तो उसकी जिह्वा को उसका स्वाद लग गया। एक दिन बिना मांस रस का साग दिया, उतना स्वादिष्ट न होने से वैष्णव ने प्रश्न किया—"क्यों भैया ! आज शाक में वैसा स्वाद नहीं है।" उसने हँसते-हँसते कहा—"अब तक मैं मांस मिलाकर बनाता था।" यह सुनकर मोहवश

उसने कहा—"अब तो भ्रष्ट हो ही गये। जैसा ही एक बार खाया वैसा ही अनेक बार, आज से हम भी खाया करेंगे।" इस प्रकार वह भी मांसाहारी बन गया। सो, मुनियो! नियमों में व्रतों में ढिलाई करने से उनकी रक्षा नहीं हो सकती। भरतजी ने उस हरिन के बच्चे के मोह में फँसकर अपने सब नियम व्रत त्याग दिये। अब तो वे नित्यप्रति उसके खाने पीने की चिन्ता करने लगे। दूर से हरी-हरी कोमल-कोमल घास लाते, उसे अपने साथ ले जाते बैठकर चुगाते रहते। वह न खाता तो प्रेम से पकड़ कर कोमल-कोमल घास उसके मुख में देते। गण्डकी में ले जाकर उसे मल-मलकर नहलाते। वल्कल वस्त्र से उसके अङ्गों को पोंछते। फिर अपने साथ-साथ लेकर कुटी पर आते। बड़े-बड़े वृक्षों की मोटी-मोटी शाखायें काट-काटकर उन्होंने उन्हें गढ़कर बाड़ बनाई। उसे घास फूस से छाया। इस प्रकार पत्थर रखकर रक्षा कर दी, कि कोई सिंह व्याघ्र आकर मेरे बच्चे को कष्ट न दे। इतना सब प्रबन्ध करने पर भी रात्रि में कई बार उठ-उठकर देखते। जब उसे सकुशल बैठे हुए जुगार करते पाते, आनन्द में विभोर हो जाते, उसे पुचकार कर कहते—"अरे तू अभी तक सोया नहीं क्या? सो जा बच्चे? सो जा।" यह कहकर उसे सुला देते। दिन भर उससे प्यार करते। उसके मुँह को बार-बार चूमते, पुचकारते। इन सब कामों से उन्हें अवकाश ही नहीं रहता था, कि भगवान् की सेवा करें। अब उनके लिये सेवनीय पूजनीय स्मरणीय चिन्तनीय वह मृगशावक ही हो गया।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन! अधिक क्या कहें, राजर्षि भरत को उस मृगशावक में औरस पुत्र से भी बढ़कर अपनेपन का अभिमान हो गया। अब वे उसे ही अपना सर्वस्व समझने लगे।"

छप्पय

हरिमहँ जो मन लग्यो हरिनमहँ फँस्यो भाग्यवश ।
करे हरिन जस काज करें भूपति हू तस तस ॥
चाटें चूमें प्यार करें तनकूँ खुजिलावें ।
पुचकारें तृन लाइ स्वयं निज करनि खवावें ॥
चलत फिरत सोवत उठत, छाया सम राखें निकट ।
तजि सरबस मृग मोह महँ, फँसे मोह महिमा विकट ॥

भरतजी का मृगशावक के प्रति मोह

(३२४)

कामो मन्युर्मदो लोभः शोकमोहभयादयः ।
कर्मबन्धश्च यन्मूलः स्वीकुर्यात्को नु तद् बुधः ॥*

(श्री भा० ५ स्क० ६ अ० ५ श्लोक)

छप्पय

सुनि दहाड़ हरि मृगी भई भय तें अति चिन्तित ।
मारी एक छलाँग नदी कूँ पार होन हित ॥
भरे पेट श्रम भयो नदी महँ गर्भ गिरायो ।
पार जाइ गिरि मरी भरत मृग शिशु अपनायो ॥
करुणावश सँग ले गये, सुत समान पालन करयो ।
मोह माँहिँ तन्मय भये, हाथ हवन करतहिँ जरयो ॥

प्रारब्ध पुरुष को कहाँ-कहाँ भटकाता है, इसका कुछ निश्चय नहीं हो सकता । कौन इस बात पर विश्वास कर सकता है, कि त्रैलोक्य विजयी अर्जुन को केवल लाठियों के बल से जंगली आभीरों ने जीत लिया । श्रीकृष्ण की उपभोग्य रानियों के साथ दस्युओं ने बलात्कार किया, उन्हें बलपूर्वक उठा ले गये, किन्तु हुआ ऐसा ही । अर्जुन और कृष्णपत्नियों के प्रारब्ध ने अपना

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जो मन काम, क्रोध, मद, लोभ, शोक, मोह और भय आदि शत्रुओं का तथा कर्म बन्धन का मूल कारण है, उस पर कौन बुद्धिमान पुरुष विश्वास कर सकता है ?"

चमत्कार दिखाया। उनके मन में जो यत्किंचित अपने आप पर अभिमान हुआ होगा काल ने उस मान का मर्दन कर दिया। भाग्य ने असम्भव घटना को सम्भव कर दिया। दैव ने अनहोनी बात को प्रत्यक्ष करके दर्शा दिया। इसीलिये तो दैव को दुर्निवार कहा है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज भरत एकान्त में निश्चिन्त होकर भजन कर रहे थे। दैव वहाँ विघ्न रूप से मृगशावक का शरीर धारण करके उनके योग में अन्तराय बन कर उपस्थित हो गया। वे सब ज्ञान ध्यान छोड़कर मृग के मोह में फँस गये।"

राजा परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! भरतजी ने कोई बुरा काम तो किया नहीं। उन्होंने तो दयावश निःस्वार्थ भाव से पानी में बहते हुए असहाय मृगाशावक की रक्षा की। प्रत्येक सहृदय व्यक्ति का कर्तव्य है, कि किसी भी जीव को विपत्ति में फँसा देखे तो उसकी यथाशक्ति सहायता करे, प्राणों की बाजी लगाकर भी उसे बचावे। फिर आप इसे बार-बार मोह क्यों कहते हैं। क्या वे अपने सामने उस बच्चे को बहने देते। यदि महाराज! निर्दयता का ही नाम वैराग्य है तो ऐसे वैराग्य को दूर से डण्डौत है।"

इस पर अत्यन्त गम्भीर होकर श्रीशुक बोले—"महाराज! आप मेरे अभिप्राय को समझे नहीं। दया में और कृपा में तनिक अन्तर होता है। प्रेम में और मोह में भेद है। दया तो प्राणी मात्र पर समान रूप से की जाती है। जिसे भी दुखी देखा उसके ही दुख दूर करने की भावना मन में हो गयी, इसका नाम दया है। जिनसे अपना कोई सम्बन्ध है जिनमें अपनापन है उनके दुख में जो दुखी होता है उनके लिये जो कुछ करते हैं कृपा के वशीभूत होकर करते हैं। दया समष्टि

रूप से की जाती है कृपा व्यष्टि रूप से। अर्जुन ने युद्ध के समय जो बातें कही थीं वे सिद्धान्तः सत्य थीं, किन्तु कृपावश परिवार के पुरुषों के प्रति ममता के कारण कहीं थी अतः वह मोह जनित थीं। भगवान् ने उनके मोह को दूर किया प्रत्येक बालक को देखकर प्रेम होना स्वाभाविक है, किन्तु उसमें अपनापन स्थापित कर लेना और फिर उस अपनेपन के कारण एक में ही अपने प्रेम को सीमित कर देना वही मोह है। बन्धन का कारण आसक्ति है। वाटिका में नाना भाँति के पुष्प खिले हैं, उन्हें देखकर चित्त प्रसन्न होता है, स्वाभाविक है। किन्तु उनमें आसक्त होकर उनमें से एक को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना एक को अपनाना उसी में निजत्व स्थापित कर लेना यह मोह है।

राजर्षि भरत ने मृग के बच्चे को जल से निकाला यह तो उचित ही किया। कुछ दिन पाला पोसा यह भी अच्छा ही किया किन्तु उसमें अपनेपन का अभिमान करके निरन्तर उसी के सम्बन्ध में सोचते रहना यह प्रत्यक्ष मोह था, तपस्या में विघ्न था राजर्षि का पतन था उनको उसे छोड़ देना चाहिये था।

राजा ने पूछा—"भगवन्! बाहर छोड़ आते और फिर आ जाता तो?"

श्रीशुक ने गम्भीर होकर कहा—महाराज! यह बात नहीं है। जीव वहीं आता है, जहाँ कुछ आसक्ति देखता है बच्चा उसी की गोदी में दौड़ता है जहाँ उसे आदर मिलने की सम्भावना रहती है, आ जाता, पड़ा रहता और भी तो हरिन के बच्चे आते होंगे। राजर्षि उनकी ओर देखकर अपने भजन पूजन में लग जाते थे। किन्तु इस बच्चे को तो वे अपने सगे पुत्रों से भी अधिक प्यार करने लगे।

कभी-कभी उनका विवेक उन्हें धिक्कारता और कहता

तुम भजन करने आये थे और इस हिरन के बच्चे में फँस गये। इस पर हृदय में प्रारब्धवश उत्पन्न हुआ मोह नाना प्रकार की युक्तियों द्वारा इसका खण्डन करता। राजर्षि सोचते—"देखो इस बच्चे का प्रारब्ध कैसे खोटा था। जब यह गर्भ में था तभी इसकी माता का अपने झुण्ड से, पति से, सुहृद तथा बंधु बान्धवों से विछोह हो गया। एकाकी इसकी माँ इसे उदर में रखे घूमती रही। भाग्यवश इसका जन्म भी हुआ तो सिंह के भय से नदी के गर्भ में हुआ। मेरी तनिक सी दृष्टि न जाती तो इसका उसी समय अन्त ही हो जाता। जन्मते ही इसकी माँ मर गयी, अनाथ और असहाय हो गया। भगवान् ने मुझे धरोहर रूप में इसे दे दिया। यद्यपि यह भोला भोला पशु है तो भी मेरी शरण में आया है। शरणागत की रक्षा तो प्राण देकर भी की जाती है। मैं तो मनुष्य हूँ। एक कबूतर की स्त्री को एक व्याधा ने बाँध लिया था। रात्रि में वह व्याधा उसी पेड़ के नीचे आकर टिका जिस पर अपनी पत्नी के वियोग में दुख से दुखी कबूतर बैठा था। जाड़े का दिन था वर्षा हो रही थी व्याधा को बड़ी ठंड लग रही थी। कबूतर ने सोचा—"यद्यपि इसने मेरी स्त्री को बाँध लिया है और यह नित्य ही जीवों की हिंसा करता है फिर यह मेरे आश्रय में आया है अतिथि बनाकर भगने भेजा है। मुझे इसकी रक्षा करनी चाहिये, यह सोचकर वह सूखी-सूखी लकड़ियाँ लाया चौंच में कहीं से आग ले आया अब अग्नि जल गयी तो स्वयं उसकी भूख शान्त करने को अग्नि में गिर पड़ा कि मुझे भूनकर यह खा ले। जब एक पक्षी ने अपने आश्रय में आये व्याधा की प्राण देकर रक्षा की तो मैं तो मनुष्य हूँ, इस हरिन के बच्चे की उपेक्षा कैसे कर सकता हूँ। शास्त्रकारों का कथन है, कि शरणागत की रक्षा के लिये पुरुषों को अपने बड़े-से-बड़े स्वार्थों का भी परित्याग कर देना चाहिये। भजन

पूजन तो फिर भी हो सकता है यह बच्चा मर गया तो फिर कैसे जी सकता है। इस प्रकार की अनेकों युक्तियों द्वारा मन को समझाकर भरतजी अत्यन्त मनोयोग के साथ उनका लालन-पालन-पोषण तथा तोषण करने लगे। भरतजी की उस बच्चे में इतनी अधिक आसक्ति बढ़ गई, कि उसे छिन भर भी अपने नेत्रों से पृथक् नहीं कर सकते थे। उसके स्नेह पाश में बँधकर वे उसके अधीन हो गये। जहाँ भी बैठते उसे पास में बिठाते, लेटते तो अपनी बगल में ही लिटाते, घूमने जाते तो उसे साथ लेकर ही जाते, भोजन करते तो उसे सामने बिठालते। एक ग्रास स्वयं खाते दूसरा उसे खिलाते जाते। स्नान करने जाते तो उसे साथ ले जाते, पहिले उसे नहला लेते तब स्वयं नहाते। कभी कुशा, समाधि, पत्र, पुष्प, फल, फूल, मूल तथा कन्द आदि लेने जाते तो उसे भी संग ही ले जाते। वे सोचते—"ऐसा न हो पीछे कोई सिंह व्याघ्र आकर मेरे छौने को खा जाय। यदि इसका कुछ भी अनिष्ट हो गया तो मेरा जीवन ही व्यर्थ है। मार्ग में जाते-जाते कई बार उसे पुचकारते, प्यार करते उसके शरीर में गुलगुली करते, फिर कहते—"अरे राजकुमार! तू बड़ा सुकुमार है इतनी दूर चलने से तू अवश्य ही थक गया होगा, आ बेटा! तुझे कन्धे पर चढ़ालूँ। यह कहकर उसे कन्धे पर चढ़ा लेते और बहुत दूर तक चढ़ाये-ही-चढ़ाये चले जाते। कभी-कभी उसे कसकर अपनी छाती से चिपटा लेते, कभी उसके मुख को अपनी गोद में रखकर बार-बार उसके मुख को फाड़ते और फिर पोली उंगलियों से पकड़कर उसे दबाते। इस प्रकार उससे खेलते हुए आश्रम में लौट आते।

यद्यपि अब उनका भजन ध्यान तो सब छूट ही गया था। फिर भी स्वभावानुसार कुछ देर माला लेकर बैठते, किन्तु चिन्ता सदा उस मृगशावक की ही बनी रहती। बार-बार निहारकर

देखते, बैठा है कि कहीं चला गया। यदि दिखाई न देता, तो झोली माला रखकर बीच में ही उठकर देखते, कहीं भाग तो नहीं गया। जब उसे दूर बैठा देखते तो पास जाकर कहते—"बेटा! अच्छे हो, भगवान् तुम्हारा मङ्गल करें। तुम मेरी दृष्टि से दूर हटकर क्यों बैठते हो? चलो मेरे सामने बैठो। यह कह-उसे लिवा लाते बैठाकर उसके शरीर को खुजवाते और फिर भाँति-भाँति से उसके प्रति प्रेम प्रदर्शित करते।

श्रीशुक कहते हैं—"महाराज! मोह इतना बलवान है, कि जिसके प्रति भी हो जाय उसी को चित्त सर्वस्व समझने लगता है। इसीलिये साधुओं को किसी भी स्त्री, पुरुष, बालक, पशु, पक्षी में आसक्ति मानकर निजत्व भाव न करना चाहिये। राजन! हमने बहुत से त्यागी विरागी साधुओं को देखा है, पहिले तो उन्होंने किसी अबला को दयावश आश्रय दिया, पीछे उसी के चक्कर में फँस गये। समीप में रहने से और अपने अनुकूल आचरण करने से अनुराग हो ही जाता है। चित्त तो किसी को प्यार करने को छटपटाता ही रहता है। भगवान् तो दीखते ही नहीं, दीखते भी हैं तो बड़ी कठिनता से किसी को दिखाई देते हैं इसीलिये समीप रहने वाले के प्रति अनुराग आसक्ति और मोह हो जाता है। इसीलिये साधु के समीप जो भी आवे उसके प्रति मोह न करे। उसके अनुकूल आचरणों में आसक्ति न करे, बार-बार स्मरण करता रहे, कि जब हम अपने शरीर के सगे सम्बन्धियों को छोड़ आये, तो किसी अन्य में आसक्ति क्या करनी। यदि इस बात को भूल गया, तो न घर का रहेगा न घाट का, न साधु ही रहेगा न गृहस्थी। न या बाजू न वा बाजू, न बाबाजी न बाबूजी। आया भ्रष्ट होकर नष्ट हो जायगा। भरतजी उस हरिन के बच्चे के मोह में फँसकर योगमार्ग से च्युत हो गये, वे आवागमन की चूक से निकलते-निकलते फिर से फँस गये।"

छप्पय

औरस आत्मज तनुज धार्मिक त्यागे निज सुत ।
जो सबई सुकुमार सुघड़ सुन्दर सुशीलयुत ॥
तृन सम त्याग्यो राज सुन्दरी महिषी त्यागीं ।
रूपवती गुणवती मृतक सम ते सब लागीं ॥
ठगे भाग्य ने भरतजी, चढ़ि ऊँचे नीचे गिरे ।
मूर्तिमान दुर्भाग्य मृग, के चक्कर महँ नृप परे ॥

भरतजी को मृग बालक का वियोगजन्य दुख

[३२५]

राजन् मनीषितं सम्यक् तव स्वावद्यमार्जनम् ।
सिद्ध्यासिद्ध्योः समं कुर्याद्दैवं हि फलसाधनम् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ३६ अ० ३८ श्लोक)

छप्पय

मृग शावक इक दिवस दूरि चरिवेकूँ धायो ।
सब दिन बीत्यो नहीं लौटि आश्रम महँ आयो ॥
विकल भये अति भरत रुदन करि इतउत धावें ।
लै लै वाको नामु करुन स्वर ताहि बुलावें ॥
हाय अभागो हौं लुट्यो, आजु कहाँ मम सुत गयो ।
को करि क्रीड़ा देहि सुख, जग वा बिनु सूनों भयो ॥

मनुष्य की जिसके ऊपर आसक्ति हो जाती है उसके लिये सब कुछ करने को तैयार हो जाता है। ऐसे कई उदाहरण प्रयत्त देखने में आये हैं कि साधारण स्त्री के पीछे बड़े-बड़े सम्राट् ने स्वेच्छा से राज सिंहासन का त्यागकर दिया है। बड़े-बड़े महात्मा

---

* राजन् ! आपने अच्छा ही विचार किया है। अपवा अमङ्गल सभी दूर करना चाहते हैं। पुरुष को चाहिये कि सिद्धि असिद्धि में समभाव रखकर अपने कर्तव्य का पालन करता रहे। क्योंकि सभी कर्मों का फल देने वाला दैव ही है।

अपनी यह प्रतिष्ठा खोकर किसी पर आसक्त होकर भ्रष्ट हो गये हैं। मन जिसमें रम जाता है उससे प्यारा उसे संसार में कोई दिखाई ही नहीं देता है। उसे देखे बिना कल नहीं पड़ती, उसकी सङ्गति के बिना संसार शून्य-सा दिखाई देता है, ऐसे एक नहीं अनेकों उदाहरण हैं कि जिसके प्रति जिसकी अत्यन्त आसक्ति होती है उसके साथ वे प्राणों का भी मोहवश अन्त कर देते हैं। मन में उसकी मूर्ति बस जाती है उसकी चेष्टा में सुख होता है। उसके प्रत्येक कार्य हृदय को प्रिय लगते हैं उसकी स्मृति में मीठी-मीठी मादकता रहती है। उसकी सभी बातें मिश्री से भी अधिक मीठी लगती हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् जब भरतजी का चित्त हरिन बालक में अत्यन्त ही आसक्त हो गया तब एक दिन दैव-वश वह हरिन न जाने कहाँ चला गया। भरतजी ने आसन से उठकर कुटी के चारों ओर दृष्टि दौड़ाई, किन्तु हरिन के बच्चे का पता ही नहीं। उनका मुख फक्क पड़ गया। दौड़कर इधर गये उधर गये, यहाँ खोजा वहाँ खोजा, हरिन राजकुमार का पता ही न लगा। शङ्कित चित्त से भरतजी गण्डकी के तट पर गये। वहाँ भी अपने बच्चे को उन्होंने न देखा। पल-पल पर उनकी अधीरता बढ़ रही थी। बच्चे को बिना देखे वे व्यग्र हो रहे थे। चित्त चञ्चल हो रहा था, शरीर की सुधि बुधि भूले हुए थे। प्रेम में अनिष्ट की शङ्का पग-पग पर होती है। अब तो मन में अनेक तर्क वितर्क करने लगे। करुणावश हरिण बालक के विरह में व्याकुल हुए वे बड़ी विचित्र-विचित्र बातें सोचने लगे। कृपण जैसे धन नष्ट होने पर दुखी होता है, धनी जैसे अपने सर्व गुण सम्पन्न इकलौते पुत्र के मर जाने पर अधीर होता है, दूध पीने वाला बालक जैसे माता के बिछुड़ने पर व्याकुल होता है, मछली जैसे जल से पृथक् होने से बिलबिलाती है, सर्प जैसे

मणि के वैसे छटपटाता है, प्रिया जैसे प्रियतम के बिना दुखी होती है वैसे ही राजर्षि उस मृग बालक के बिना दुःखी हो गये।"

वे सोचते—"अवश्य ही मुझसे कोई अपराध बन गया है, तभी तो वह वह मुझे छोड़कर चला गया है। कौन-सी बात हो गई। (प्रातः से दोपहर तक की बात सोचकर) ओहो! आज मैं उसके लिये घास नहीं लाया था पानी पिलाने में भी आज देर हो गई। मेरा ही दोष है, वह तो भोला भाला शिशु है, बिचारा दीन दुखी है, उसकी माँ मर गई है। उसने सबसे मुख मोड़कर मेरा आश्रय लिया है, उसने मेरे ऊपर विश्वास किया था। मैं ऐसा व्याधा निकला कि विश्वास उत्पन्न कराके उसे कष्ट दिया उसके साथ विश्वासघात किया। यह कार्य मुझ नीच के अनुरूप ही हुआ, किन्तु वह तो सत्पुरुषों के समान साधु स्वाभाव का भोला भाला बालक है, वह तो अवश्य ही मुझे क्षमा कर देगा। वह मेरे अपराधों की ओर ध्यान न देकर लौट आवेगा। (फिर अपने आप ही चौंककर कहने लगे) लौट आवेगा, लौट आवेगा। क्या सचमुच लौट आवेगा? क्या मैं अपनी इन्हीं आँखों से अपने हरिण राजकुमार को आश्रम के निकट कोमल-कोमल हरी हरी दूब चरते हुए देखूँगा? क्या वह पुनः अपने छोटे-छोटे सींगों से मेरे शरीर में हुश्च मारकर मेरी खुजली को मिटावेगा। उसके सींगों का कैसा सुखद, मृदु और शीतल स्पर्श था। वह कितने प्यार से मेरे शरीर से लिपट-सा जाता था।"

स्नेही हृदय शङ्का से भरा रहता है, अतः भरतजी फिर सोचने लगे—"मुझसे चाहें अपराध हो भी जाय, किन्तु उसका ऐसा सुन्दर शील स्वभाव है, कि वह कभी मुझे स्वेच्छा से छोड़ नहीं सकता। यद्यपि वह पशु योनि में था। किन्तु सब कुछ समझता था। अभी उसका मनोहर बाल चापल्य गया नहीं था।

हरिन स्वभाव से ही चपल होते हैं, तिस पर वह तो अभी बच्चा ही था। कभी-कभी वह बाल सुलभ चञ्चलतावश बहुत उछ-लता कूदता, तब मैं उसे डाँट देता। मेरी डाँट को सुनकर विनयी सुशील ऋषिकुमार के समान वह उदास होकर मेरे सम्मुख भयभीत की भाँति कान नीचे करके चुपचाप खड़ा हो जाता, तब मैं उसका मुख चूम लेता और प्यार से कहता—बेटा! देख, बहुत उपद्रव नहीं किया करते हैं। आजा फल खाले तब वह मेरी गोदी में बैठकर प्रेमपूर्वक फल खाने लगता। वह मुझे कभी स्वयं छोड़कर जाता ही नहीं था। अवश्य ही उसे किसी व्याघ्र ने खा लिया। हाय! मेरे बच्चे को खाते समय सिंह को दया न आई। जब उसे पञ्जों में दबाकर मारा होगा, तो वह कितना छटपटाया होगा।" (इतना सोचते-सोचते भरतजी रोने लगे)।

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! आशा बड़ी बलवती होती है, मनुष्य आशा के सहारे ही जीता है भरतजी को पुनः आशा ने आ घेरा। वे सोचने लगे—"संभव है किसी ने उसे न मारा हो, किसी हरिणों के झुण्ड के साथ दूर तक चला गया हो। सायं-काल होते-होते फिर लौटकर आ जाय। (आने का विचार उठते ही उनका हृदय भर आया वे फिर सोचने लगे) अहा! वह कैसा शुभ मुहुर्त होगा जब मेरा बिछुरा बालक फिर से आकर मुझसे मिलेगा। फिर यहाँ आकर अपनी बाल क्रीड़ायें दिखाकर मेरे मन को प्रमुदित करेगा। उसकी सभी बातें कितनी प्यारी प्रेम भरी होती थीं। मैं कभी-कभी उसे ठगने के लिये उटज के भीतर नेत्र बन्द करके ध्यान का ढोंग करता। यद्यपि मन में मेरे वह बसा रहता था, किन्तु ऊपर से समाधि का स्वाँग रचता। वह पीछे से चुपके-चुपके आकर मेरे शरीर में हुड्ड मारता और अपने बड़े-बड़े विशाल प्रेमप्लावित नेत्रों से बार-बार मेरे मुख की ओर निहा-

रता। जब मैं हँस पड़ता तो वह मेरे वल्कल में अपना मुँह छिपा लेता। मेरी गोदी में गिर पड़ता। कभी-कभी पशु होने के कारण हवन की सामग्री को भूल से सूँघ लेता या हरी कुशों को चबा जाता तो मैं उसे घुड़कता—"क्यों रे, तुझे इतना भी ज्ञान नहीं, हवनीय पदार्थ है, तैने इसे उच्छिष्ट क्यों कर दिया। कुशों को अपवित्र क्यों बना दिया। तब तो वह अपराधी की भाँति डरकर मुझसे सटकर मुख नीचा किये लज्जा का भाव प्रदर्शित करते हुए उदास हो जाता। कितना सुशील था, वह हरिण युवराज। कितनी उसकी मेरे ऊपर ममता थी। कितना वह मुझे चाहता था, यदि कहीं वह मेरी बात सुन रहा हो, तो शीघ्र आकर मुझ दुखिया को सुखी बनावे।"

हाय! दोपहर ढल चुका। भगवान् भुवन भास्कर, द्रुतगति से अस्ताचल की ओर दौड़े चले जा रहे हैं, प्राची दिशि उनके स्वागत सत्कार को उत्सुक हुई अपनी अरुण वरुण साड़ी-सी पहिने खड़ी है, क्या अब भी मेरा बालक न आवेगा? क्या सायं-काल समझकर भी वह अपने आश्रम को न लौटेगा। अरे, अब मैं उसे कहाँ ढूढ़ूँ। सर्वत्र तो खोज आया। चलो दूर तक और देख आऊँ। यह सोचकर वे फिर से उस मृग छौने को खोजने के लिये निकल पड़े। आगे चलकर क्या देखते हैं, कि पृथ्वी पर उस हरिन के खुरों के चिन्ह उभड़े हुए हैं। उन्हें देखकर राजर्षि विकल होकर बैठ जाते हैं, सोचने लगते हैं—"यह धरती ही धन्य है, जो उस प्यारे दुलारे पुत्र के पैरों के चिन्हों को धारण करती हुई अपने को भाग्यवती सिद्ध कर रही है। शास्त्र-कारों ने कहा है, जिस भूमि पर कृष्ण मृग विचरण करते हैं वह भूमि यज्ञीय भूमि कहलाती है, परम पवित्र तपोभूमि मानी जाती है, कीकटादि देशों में कृष्ण मृग नहीं होते।

आज इन मृग चरण चिन्हों को धारण करके यह वसुन्धरा

भाग्यवती बन गई। यह पृथ्वी कितनी परोपकारिणी है। जिनके घर में चोरी हो जाती है, वे चोरों के पद चिन्हों का अनुसरण करते हुए खोज लगाते हैं। आज मेरा भी सर्वस्व लुट गया। मैं भी कंगाल बन गया मेरी निधि को भी काल रूप चोर ने मुझसे छीन लिया, यह पृथ्वी दया करके उसका खोज़ बता रही है, मेरा धन इधर से ही गया है इसका पता बता रही है।

अंशुमाली भगवान् दिनकर दिन भर श्रम करने के कारण प्रिया के अरुण अंचल से मुख ढाँककर सो गये। अंबर को एकांत समझकर निशारानी अपने प्राणेश की प्रतीक्षा में आ उपस्थित हुईं, इतने में ही हँसते हुए चतुर्दशी के चन्द्र उदित हुए। उन्हें देखते ही भरतजी प्रसन्न हो उठे। उनके अंग में मृग का चिन्ह देखकर वे प्रसन्नता के कारण फूले नहीं समाये, बड़े उल्लास के स्वर में कहने लगे—"चन्द्रदेव! तुम धन्य हो, तुम बड़े परोपकारी हो। तुम्हें सभी ने सुखद शीतल शान्तिकर बताया है। तुमने मेरे बच्चे को छिपा लिया है। यह तुमने अच्छा ही किया, बेचारा मातृहीन था, वन में अकेला ही भटक रहा होगा, तुमने दयावश इसे अपना लिया। साधुओं का ऐसा ही स्वभाव होता है, देखो मेरे मृगशावक को तो तुमने भटका हुआ समझकर परोपकारवश अपनी गोद में रख लिया और पुत्र स्नेह से विकल मुझ भाग्यहीन दुःख दावानल से जलते हुए अशान्ति चित्त मन्द मति को अपनी शीतल, शान्त, स्नेहमयी तथा वदन सलिल रूप अमृतमयी कमनीय किरणों द्वारा सुधा से सिंचित करके सुखी और शान्त बना रहे हो।"

इस पर महाराज परीक्षित ने कहा—"प्रभो! क्या मनुष्य मोह में ऐसा बेसुध बन सकता है? साधारण लोगों की बात छोड़ दीजिये। वे तो अविवेक के कारण मोह ममता में ही फँसे रहते

हैं किन्तु इतने विवेकी, ज्ञानी, ध्यानी तेजस्वी तपस्वी भरतजी एक हरिन के बच्चे के पीछे ऐसे अधीर क्यों हो गये ?"

इस पर दुखित चित्त से श्रीशुक बोले—"महाराज ! इस विषय में और क्या कहा जाय । यही कहना पड़ता है कि उनका कोई घोर अन्तराय प्रारब्ध कर्म ही मूर्तिमान् मृग बनकर वन में उनकी तपस्या में विघ्न करने के लिये आ उपस्थित हुआ । नहीं तो परम धार्मिक सुशील सदाचारी अपने सगे पुत्रों को जो मोक्ष मार्ग में विघ्न समझकर तृण के समान त्यागकर चले आये हों, उनका एक अन्य जाति के पशु में ऐसा मोह हो ही कैसे सकता है ? यह सब दैव की विडम्बना है । प्रारब्ध का चक्र है । भाग्य का खेल है । ललाट की दुर्निवार रेखा का फल है । पूर्व जन्म के कर्मों का परिपक्व परिणाम है । महाराज ! उस मृग के मोह के पीछे भरतजी समस्त ज्ञान ध्यान सेवा संयम यम नियम आदि को भूल गये । अब उनकी एक रट थी, हाय मेरा मृगशावक ! हाय मेरा हरिण राजकुमार ! ऐसा सोचते-सोचते वे विकल हो गये मूर्छित होकर गिर पड़े ।"

छप्पय

कैसे तजिके गये कर‍र्‌यो काहू ने टोना ।
अति सूधो अति सरल सुघर वो मेरो छौना ।।
करिके क्रीड़ा मधुर मोइ मृग बाल रिझावत ।
चकित चित्ततें आइ अङ्ग मेरे लिपटावत ।।
हाय ! कबहुँ पुनि आइकें, दूब यहाँ वो चरेगो ।
का फिरि वैसे बालवत, मम सुत क्रीड़ा करेगो ।।

भरतजी का मृग के मोह में मरकर मृग-शरीर में जन्म

(३२६)

अहं पुरा भरतो नाम राजा
निमुक्तदृष्टश्रुतसङ्गबन्धः।
आराधनं भगवत ईहमानो
मृगोऽभवं मृगसङ्गाद्धतार्थः ॥*
(श्री भा० ५ स्क० १२ अ० १४ श्लोक)

छप्पय

इहि विधि व्याकुल भरत फिरैं वन मारे मारे।
मिल्यो न मृग बहु खोजि बिचारे भये दुखारे॥
इतने ही महँ अन्तकाल नृप को नियरायो।
भूप मृत्यु के समय हरिन फिर आश्रम आयो॥
दशा देखि शिशु सहमि के, सुत समान रोवत सतत।
मृग पटके सिर दुखित चित, भरत ध्यान वाको करत॥

---

* भरतजी रहूगण से कहते हैं—"देखिये राजन्! मैं पहिले भरत नामक राजा था, दृष्टसुख सांसारिक श्रुतसुख अर्थात् पारलौकिक दोनों प्रकार के विषयों के संग से मुक्त होकर भगवान् की आराधना कर रहा था। किन्तु फिर भी मृग का सङ्ग करने से दूसरे जन्म में मुझे मृग होना पड़ा। मेरे सभी मनोरथ नष्ट हो गये। मैं परमार्थ से भ्रष्ट हो गया।

इस जग में यह मोह जाल न होता, तो जीवों का कभी पुनरागमन पुनर्जन्म न होता। मोहवश ही प्राणियों को पुनः पुनः जन्म धारण करना पड़ता है। मोहवश ही जीव को ८४ के चक्कर में विवश होकर घूमना पड़ता है। मोह एक ऐसा मीठा दुख सुख से बटा हुआ बन्धन है, कि उसे तोड़ते भी नहीं बनता और स्वेच्छा से बाँधा भी नहीं जाता। हमें कोई विवश करता है, कि इस बन्धन में बँधो। हम मन्त्रमुग्ध की भाँति बिना परिणाम का विचार किये उसमें बँध जाते हैं और पीछे पछताते हैं। इस का नाम माया है और मोह के क्षय का ही नाम मोक्ष है। यह बन्धन और मोक्ष का सार सिद्धान्त है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भरतजी का वह हरिन युवा हो गया था। किसी हरिनी के फन्दे में फँस कर अपने पालक पिता को भूलकर उसके मोह में मदोन्मत्त होकर उसके पीछे २ चला गया था। संसार में प्रेम कहाँ है सर्वत्र स्वार्थ भरा पड़ा है। जब तक पति के पास पैसा है यौवन है, तब तक प्यारा है, जहाँ पैसा समाप्त हुआ युवावस्था बीती कौन किसका पति कौन पत्नी, पिता जब तक पालता पोसता है तब तक प्यारा है। जहाँ उसने डाटडपट की काम करने को कहा, वह शत्रु-सा दिखाई देता है। युवा पुत्र वृद्ध पिता का परित्याग करके घर से निकल जाता है। किसी की मृत्यु पर जो हम रोते हैं। तो उसके प्रेम के लिये नहीं रोते, अपने स्वार्थ में व्याघात होने से रुदन करते हैं। अब मुझे कौन कमाकर खिलावेगा, अब मेरी कौन रक्षा करेगा।" जिस पिता ने रक्त पानी बहाकर नाना प्रकार के दुःख उठाकर पुत्र को पाला है, वह वृद्ध पिता को किसी असाध्य रोग में ग्रस्त देखकर उनकी मृत्यु चाहता है। अनाथालय में प्रविष्ट करा आता है और कभी-कभी तो मरवाने तक का प्रयत्न करता है। फिर भी मोहवश पिता पुत्र का ही स्मरण करता है। मरते

समय तक उसी के सुख को सोचता है, अपना सर्वस्व धन उसी को अर्पण करता है। यही महाराज ! मोह की महिमा है। भरत-जी ने जिस हरिन को पुत्र से भी बढ़कर पाला था, वही एक अपरिचिता के साथ काम के वशीभूत होकर चला गया। दो चार दिन उसने उनका स्मरण भी न किया। जिस यूथ की वह मृगी थी, उस झुण्ड के यूथपति ने जब एक नये हरिन को अपनी एक हरिनी के साथ देखा, तो उसे ईर्ष्या हुई क्रोध आया उसने इसे युद्ध के लिये ललकारा। धन मान तथा स्त्री के लिये यह जीव परस्पर में लड़ता रहता है। दूसरों से द्वेष करता है अपने परलोक को नष्ट करता है। उस बड़े लम्बे-लम्बे सींग वाले हरिन ने इस छोटे सींग वाले युवा हरिन की बड़ी दुर्दशा की इसके पेट में सींग भोंक दिया। इसका शरीर क्षत-विक्षत हो गया, दुःख में अपने पुराने सम्बन्धी याद आते हैं। हरिन को पुनः राजर्षि भरत की याद आई। वह घायल होकर अपने आश्रम की ओर लौटा।

लौटकर हरिन ने जो देखा, उसे बड़ी ग्लानि हुई। भरतजी विना कुछ खाये पीये विकल बने पड़े हैं। मृत्यु के भाई प्रज्वार ने उसके ऊपर आक्रमण कर रखा है। वे बेसुधि हुए अपने जीवन की अन्तिम घड़ियों को गिन रहे हैं। पूर्व स्वभावानुसार हरिन सगे सम्बन्धी स्वजन की भाँति औरस पुत्र की भाँति उनके सिर-हाने उदास होकर बैठ गया। पशु होने पर भी वह समझ रहा था, कि अब मेरे पालक पिता का अन्त समय आ गया है।

इधर भरतजी सहसा अपने सुत के समान मृग शावक को अपने सिरहाने उदास मन से बैठा देखकर करुणावश रोने लगे। उनका कण्ठ मोह के कारण रुद्ध हो रहा था, उन्हें गण्डकी के किनारे की वह घटना स्मरण हो आई। जब इनकी माता इसे जल में ही प्रसव करके मर गई थी। उस मृगी मृतक मुख पर

कैसी करुणा छटक रही थी, वह अपने पुत्र के लिये कितनी दुखित होकर मरी थी। इस हरिन को मैंने पुत्र की भाँति पाला। अच्छा हुआ अन्त समय में यह मेरे पास आ गया। यह उस मृगी माता की धरोहर थी। वह न्याय रूप में मुझे दे गई थी। मृगी माता का यह सुत कितना भाग्यशाली निकला इसने अरण्य में भी कितना सुख दिया।" इस प्रकार राजन्! उस मृगी और उसके इस तनय का ध्यान करते-करते ही राजर्षि भरत उसी की चिन्ता करते-करते मृग भाव के चित्त के सहित इस असार संसार से चल बसे। वे अत्यन्त प्रबल वेगशाली कराल काल के गाल में चले गये। उनका पाञ्चभौतिक शरीर मृतक बन गया। अन्त में मृग का ही ध्यान करते हुए उसी मृगी के गर्भ में मृगशावक बनकर प्रविष्ट हुए। कुछ समय में वह मृग भी मरा और वह भी उसी के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। पहिले भरतजी मृग रूप में उत्पन्न हुए फिर उनका वह साथी हिरन भी उसी माता के गर्भ से पुनः उत्पन्न हुआ।"

यह सुनकर शौनकजी ने सूतजी से पूछा—"महाभाग, सूतजी! इसमें एक बड़ी शङ्का रह गई। भरतजी ने सैकड़ों सहस्रों वर्ष भगवान् की आराधना की वह सब तो व्यर्थ हो गई और वर्ष दो वर्ष मृग का सङ्ग करने से उन्हें मृग की योनि लेनी पड़ी यह क्या बात है?"

यह सुनकर गम्भीरता के साथ सूतजी बोले—"भगवन्! जीव की विषयों में स्वाभाविक प्रवृत्ति है। विषयों में आसक्त होना यह जीव का सहज स्वभाव है। भगवान् की ओर तो उसे बड़ी कठिनता से, बड़ी साधना से अनेक युक्तियों से हठपूर्वक लगाना होता है। देखिये आपको स्वयं ही अनुभव होगा। भगवान् की छवि का नित्य दर्शन करते हैं नित्य उनकी मूर्ति का ध्यान धरते हैं फिर भी प्रयत्न करने पर उनकी भावमयी मूर्ति हृदय

पर अंकित नहीं होती कभी स्वप्न में भी उस स्वरूप का ध्यान नहीं होता। इसके विपरीत कोई स्त्री सुन्दर सुडौल पुरुष को अथवा पुरुष किसी लावण्यमयी सुन्दरी को भूल में भी एक बार देख लेते हैं। देखना तो दूर रहा चित्र में भी दर्शन कर लेते हैं तो वह मन में बश जाती है। प्रयत्न करने पर भी चित्त से नहीं हटती। जागृत की कौन कहे स्वप्न में भी वही याद आती है और कभी-कभी तो चित्त चञ्चल होने से स्वप्न दोष तक हो जाता है। इन विषयों में चित्त लगाने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। स्वतः मन उधर खिंच जाता है। गुरुकुल में नित्य नियम से हठपूर्वक कितने वर्षों तक सन्ध्या कराई जाती है। उसका अभ्यास नहीं पड़ता और धूम्र पान आदि की साल छः महीने में ही ऐसी लत पड़ जाती है कि अत्यन्त प्रयत्न करने पर भी नहीं छूटती।

रुग्ण शरीर को निरोग करने वाले गुणकारी कड़वे काढ़े को कितनी कठिनता से पीते हैं किन्तु अत्यन्त बुरी बुद्धि को भ्रष्ट कर देने वाली सुरा को सुरापी पुरुष कितने प्रेम और उल्लास के साथ पीते हैं। कृष्ण कथा सुनते ही आलस्य आने लगता है शरीर में अँगड़ाई आती है नींद आने लगती है, किन्तु किसी की निन्दा का प्रकरण हो तो उसे कितने चाव से सुनते हैं पता नहीं उस समय नींद कहाँ भाग जाती है चित्त तन्मय हो जाता है। इच्छा होती है इसे इस प्रकार अनादिकाल तक सुनते रहें। अर्धरात्रि हो जाय पूर्णरात्रि समाप्त हो जाय किन्तु निन्दा सुनने से चित्त नहीं भरता। उसमें कुछ लेना देना नहीं, पल्ले कुछ नहीं पड़ता किन्तु मन का स्वभाव है लोकवार्ता में फँसे रहना। इस जीव ने अनेक योनियों में भ्रमण किया है सभी योनियों में माता, पिता, भाई सङ्गी सुहृद रहे हैं उनमें से किसी के प्रति राग किया है किसी के प्रति द्वेष संस्कार सहज

में तो मिट नहीं जाते। उन्हीं के वशीभूत होकर जीव का प्रारब्धवश जिससे संग हो जाता है उससे भी राग द्वेष करने लगता है। अपने प्रतिकूल आचरण करने वालों से प्रायः द्वेष होता है अनुकूल व्यवहार करने वालों से राग। इस राग द्वेष के कारण ही जीव बार-बार मरता और जीता है। महाराज ! राजर्षि भरत को भी संस्कारवश हरिन होना पड़ा।

रही भगवान् के भजन के व्यर्थ होने की बात सो भगवान् का भजन तो कभी व्यर्थ जाता ही नहीं कल्याण के निमित्त किया हुआ कार्य दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। यद्यपि भरत को मृग शरीर प्रारब्ध कर्मानुसार प्राप्त तो अवश्य हुआ था, किंतु अब भी उन्हें अपने पूर्वजन्म की स्मृति बनी ही रही मृग होकर भी वे जातिस्मर हुए। अब उन्हें याद आई—"अरे ! मैं तो पहले चक्रवर्ती राजा था ? सब राजपाट, धन, धान्य स्त्री परिवार का परित्याग करके यहाँ आया था। भाग्यवश एक हिरन के बच्चे से मेरा संयोग हो गया। उसी के कारण मुझे यह मृगयोनि भोगनी पड़ रही है। अरे मैं तो भाग्य द्वारा ठगा गया, मुझे मृग रूप बहेलिये ने फँसा लिया मेरी आगे की गति रोक दी।

श्रीशुक कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार वे बहुत विलाप करते हुए जिस किसी प्रकार अपने जीवन को यापन करने लगे। महाराज ! भगवत् कृपा से मृग शरीर में उन्हें पूरा-पूरा बोध रहा।"

छप्पय

दुस्सह काल कराल प्रबल बलशाली आयो।
देह त्यागि के भरत फेरि पशु को तन पायो॥
जाको चिन्तन करत जीव त्यागे जा तनकूँ।
अपर जन्म महँ योनि मिले सोई जीवनिकूँ॥
योगभ्रष्ट भूपति भये, मृगासक्त मन ह्वै गयो।
तातें मृग की योनि महँ, भरत जन्म फिरतें भयो॥

भरतजी के मृग शरीर का अन्त

(३२७)

यज्ञाय धर्मपतये विधिनैपुणाय
योगाय सांख्यशिरसे प्रकृतीश्वराय ।
नारायणाय हरये नम इत्युदारम्
हास्यन्मृगत्वमपि यः समुदाजहार ॥*

(श्रीभा० ५ स्क० १४ अ० ४५ श्लोक)

छप्पय

व्यर्थ होहि नहिँ भजन तनिक हू भूले नाहीं ।
पूर्व जन्म को वृत्त भरत मृग तनके माहीं ॥
करि बहु पश्चात्ताप मातु हरिनि हू त्यागी ।
कालिंजर गिरि त्यागि भये फिरतें बैरागी ॥
संग करहिँ नहिँ भूलि अब, नहिँ सजीव तृनकूँ चरहिँ ।
सूखे पत्ता खाइकें, ऋषि मुनि सम तप व्रत करहिँ ॥

विस्मृति दुःख को पश्चाताप को कम कर देती है, यदि संसार के सभी दुःख सभी अपमान हमें सदा स्मरण बने रहें

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भरतजी ने मृग के शरीर को छोड़ते हुए भी बड़े प्रेम से स्पष्ट स्वर में ये वचन कहे थे—"यह योगगम्य सांख्य शास्त्र के सिद्धान्त स्वरूप प्रकृति के भी स्वामी श्रीमन्नारायण हरि को नमस्कार है।"

किन्तु भगवान् ने विस्मृति बनाकर हमारे बहुत से दुःखों का अन्त कर दिया है। जीव जिस योनि में भी जाता है, उसी में पुराने जमाने की सब बातें भूलकर सुखानुभव करने लगता है। किसी राजा को अपने मृत्यु के पूर्व ही यह विदित हो गया था कि अग्रिम जन्म में मैं शूकर योनियों में जन्म लूँगा। इसलिये उसने अपने पुत्र को बुलाकर कहा--"देख, बेटा! प्रारब्धवश अब के मुझे अमुक स्थान में शूकर होना पड़ेगा। मेरे सिर पर एक सफेद बड़ा-सा चिन्ह रहेगा, तू देखते ही मुझे मार डालना, जिससे इस घृणित योनि में रहकर विष्ठादि न खानी पड़े।" आज्ञाकारी पुत्र ने कहा—"अच्छी, बात है, पिताजी! मैं ऐसा ही करूँगा।" कालान्तर में राजा मरे और शूकर हो गये। उनके पुत्र को या तो स्मरण नहीं रहा या गणना करने में देर हो गई। इतने काल में वह शूकर बड़ा हो गया, किसी शूकरी से उसका सम्बन्ध हो गया, बच्चे भी हो गये। एक दिन उसी राजा के पुत्र ने संयोगवश उस शूकर को शूकरी के बाल बच्चों सहित खेतों में बड़े प्रेम से विष्ठा खाते हुए देखा। उसे अपने पिता की बात स्मरण हो आई। उसने तुरंत तरकस से बाण निकाला। ज्यों ही उसे लक्ष्य करके बाण छोड़ना चाहा, त्यों ही उसने बड़े कातर स्वर में कहा—'राजन्! अब आप मुझे न मारें, अब तो मैं अपनी शूकरी और इन बाल बच्चों के साथ परम सुखी हूँ अब मुझे अपना यह आहार परमप्रिय लगता है। अब मेरी इस योनि में आसक्ति हो गई है, अब तो मैं विष्ठा में सुख का अनुभव करने लगा हूँ।" यही दशा सभी प्राणियों की है जो जिस योनि में चला जाता है, वह उसी योनि में अपने को सुखी समझता है, उस शरीर को छोड़ना नहीं चाहता। कोई बड़े ध्यानी ज्ञानी किसी अन्तराय के कारण किसी हीन योनि को प्राप्त कर लेते हैं और भगवद् आराधना के प्रभाव से उन्हें पूर्वजन्म का स्मरण बना

रहता है, तो वे उस अधम योनि का अन्त होने की बड़ी उत्कंठा से प्रतीक्षा करते हैं। कई ऐसे पशु योनि में जीव देखे गये हैं। एक कुत्ते को प्रत्यक्ष देखा था, उसके सामने भगवद् नैवेद्य को छोड़कर कुछ भी रक्खे नहीं खाता था। एकादशी के दिन कैसा भी अन्न रक्खो वह सूँघता नहीं था। कौन उसे बता देता था, आज एकादशी है। इससे प्रकट होता है, वह पूर्वजन्म में कोई संस्कारी वैष्णव रहा होगा, किसी प्रारब्ध कर्मवश उसे कूकर योनि में आना पड़ा। किन्तु उपासना के प्रभाव से उसे पूर्वजन्म की सब बातें स्मरण थीं, इसीलिये उसने न कभी जीवन भर किसी कूकरी का स्पर्श किया न वैष्णवों को छोड़कर कहीं गया और न भगवद् नैवेद्य के अतिरिक्त कभी कोई पदार्थ खाया। अन्त में उसकी मृत्यु भी अत्यन्त उत्तम हुई।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भरतजी अब मृग हो तो गये। उसकी मृगी माता कालिञ्जर पर्वत पर रहती थी। जन्म होते ही भरतजी समझ गये कि मेरे योग में अंतराय का फल है। मृग शावक के सङ्ग से मुझे फिर जन्म लेना पड़ा। अब जीवन में कभी किसी का सङ्ग न करूँगा। किसी के प्रति आसक्ति न बढ़ाऊँगा, किसी में ममता स्थापित न करूँगा, इस मृगी माता से भी मुझे कोई प्रयोजन नहीं। यह सोचकर वे दूसरे ही दिन रात्रि में अपनी माता को छोड़कर भाग निकले। हरिन का बच्चा पैदा होते ही भागने लगता है। भगवान् की कैसी विचित्र महिमा है, भगवान् माता के उदर में ही उसे भागने की शक्ति दे देते हैं। भरतजी भाग कर फिर वहीं गण्डकी के किनारे हरिहर क्षेत्र के शालिग्रामतीर्थ में आ गये जहाँ पुलस्त्य और पुलह ऋषि के पावन आश्रम थे।

भरतजी को इस मृग शरीर में अपनी तपस्या और भगवद् आराधना में विघ्न की स्मृति से परम ग्लानि हुई। वे बार-बार पश्चात्ताप करते हुए सोचने लगे—"देखो, प्रारब्ध ने मुझे कहाँ

ले जाकर पटक दिया। मेरा दुर्दैव मृग का रूप रखकर मेरे सम्मुख आ गया, उसने मुझे ठग लिया, परमार्थ से च्युत कर दिया, मेरी साधना को भ्रष्ट बना दिया। जिस चित्त को सदा मैं भगवद् गुण श्रवण-कीर्तन और मनन निदिध्यासन तथा भगवद् ध्यान में लगाये रहता था, एक पल को भी व्यर्थ नहीं जाने देता था, क्षण-क्षण का सदुपयोग करता था। वही चित्त प्रारब्धवश एक मृगशावक के मोह में फँस गया, मेरा सर्वस्व नष्ट हो गया। मैं अपने लक्ष्य को भूल गया, उत्थान के स्थान में पतन हो गया। अस्तु अब सोचने से क्या होता है अब तो निरन्तर ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, कि इस भूल की पुनरावृत्ति न हो, फिर किसी के मोह में न फंस जाऊँ। ये आँख ही धोखा देती हैं। जहाँ ये दो से चार हुई नहीं कि नई सृष्टि रच देती हैं। अब मैं किसी से आँखें न मिलाऊँगा, किसी के पास न जाऊँगा, न किसी को अपने पास बुलाऊँगा, न किसी के यहाँ जाकर खाऊँगा, न किसी को खिलाऊँगा, न किसी को अपनी सुख दुःख की एकान्त में रहस्यमयी बातें सुनाऊँगा, न किसी की सांसारिक बातें सुनूँगा। एकान्त में रहूँगा अपने राम को रिझाऊँगा और हरि स्मरण करते हुए चैन की वंशी बजाऊँगा।" यह सोचकर मृगयोनि में प्राप्त भरतजी चुपचाप एक गुफा में रहने लगे। वे हिंसा के भय से हरी घास को भी नहीं खाते थे। पेड़ों से अपने आप गिरे सूखे पत्तों को खाकर वे जीवन धारण कर रहे थे। कभी किसी मृग के झुण्ड में नहीं जाते थे। चुपके से अकेले जाकर गण्डकी का जल पी आते, कुछ सूखे पत्ते खा लेते और शान्त चित्त से भगवान का ध्यान करते रहते। उन्हें मृग शरीर से मोह नहीं था, यही नहीं उसे तो वे भार समझते थे, किन्तु करते भी क्या ? प्रारब्ध कर्मों का तो भोग से ही क्षय हो सकता है। भोग के अतिरिक्त प्रारब्ध क्षय का दूसरा कोई उपाय ही नहीं। अतः मृग शरीर के प्रारब्ध क्षय

की प्रतीक्षा करते हुए वे समय विताने लगे।

कुछ काल में मृगयोनि का प्रारब्ध नाश हो गया। जितने दिन उस विघ्न रूप मृग का सङ्ग हुआ था, जितने दिन उसका लालन, पालन-पोषण किया था। जितने दिन उसे चूमचाट कर मोह बढ़ाया था, उतने दिन मृगत्व प्राप्त करके उनके संस्कार समाप्त हुए। उनका जन्मान्तरीय प्रगाढ़ मोह तो था नहीं। नैमित्तिक प्रारब्ध था वह अल्पकाल में ही समाप्त हो गया।

भरतजी को भगवान् की आराधना के प्रभाव से यह भान हो गया कि अब मेरे इस मृग शरीर का अन्त होने वाला है। राजन्! भगवान् की उपासना कैसे भी की जाय, वह कभी व्यर्थ होती ही नहीं। कल्याणकृत दुर्गति को प्राप्त होते ही नहीं। नहीं तो मृग शरीर से भगवद् स्मरण चिन्तन होना, पूर्वजन्म का स्मरण बना रहना असंभव ही है।

भरतजी अपना अन्तिम समय समझकर गण्डकी के समीप चले गये। आधा शरीर तो उनका गण्डकी के जल में था और आधा जल के बाहर। मृत्यु के समय कोई तीर्थ स्थान जलाशय मिल जाय और आधे शरीर को जल में डुबाकर वहाँ प्राण त्याग करे, तो इससे उत्तम मृत्यु दूसरी कौन-सी होती है। बड़े भाग्य से जन्म जन्मान्तरों की साधना से ऐसी मृत्यु प्राप्त होती है। नहीं तो लोगों की घर में खटिये पर मृत्यु होती है। शास्त्रकारों का कथन है जिसकी घर में खाट पर मृत्यु होती है, उसे उतने दिनों तक संसार बन्धन में रहना पड़ता है, जितने कि घर में खाट में बन्धन (गाँठ) हैं। इसका सारांश इतना ही समझना चाहिये कि मृत्यु के समय घर की सब वस्तुएँ याद आती हैं। परिवार के सभी लोगों के प्रति ममत्व होता है। इसलिये मृत्यु एकान्त में तीर्थ में हो जहाँ शान्ति रहे भगवत् स्मरण बना रहे मृग शरीर में भी भरतजी को इतना ज्ञान रहा कि उन्होंने अपनी

गुफा में शरीर त्याग नहीं किया। शरीर त्यागने के लिये वे भगवती गण्डकी के पावन तीर्थ में पहुँच गये।

प्रारब्ध का क्षय होते ही, उनका जीवात्मा शरीर से पृथक हो गया जीवन धारण करने वाली प्राण वायु संस्कारों के सहित इस पञ्चभौतिक शरीर को त्यागकर सूक्ष्म शरीर के सहित चली गयी। मरते समय मृग शरीर में भी भरतजी ने स्पष्ट शब्द में भगवान् के नामों का उच्चारण किया था। उन्होंने कहा था यज्ञ पुरुष भगवान् के लिये नमस्कार है। धर्म के स्वामी धरणीधर को प्रणाम है। समस्त प्राणियों के पापों को हरने वाले हरि को नमस्कार है। सांख्यशास्त्र के सिद्धान्त को प्रवर्तन करने वाले प्रभु को प्रणाम है। योगगम्य अखिलेश का मैं अनन्यभाव से अभिवादन करता हूँ। इस प्रकार उन अखिलान्तर्यामी अच्युत का स्मरण करते-करते ही उन्होंने मृग शरीर का परित्याग किया।

छप्पय

यों भोगे प्रारब्ध कर्म मृग देह पाइके।
तज्यो हरिन तनु तीर्थ गण्डकी नीर न्हाइके॥
नारायण हरि कृष्ण यज्ञ पति नाम उचारे।
अन्त समय लै नाम पाप उप पातक जारे।
पछिताये मृग मोह करि, कबहुँ न फिर ऐसो कर्यो।
यह भव जलनिधि अन्तमहँ, गोखुर सम सुखतें तर्यो॥

भरतजी का विप्र वंश में जन्म

[३२८]

सा मां स्मृतिर्मृगदेहेऽपि वीर,
कृष्णार्चनप्रभवा नो जहाति ।
अथो अहं जनसङ्गादसंगो—
विशङ्कमानोऽविवृतश्चरामि ।।*

(श्री भा० ५ स्क० १२ अ० १५ श्लो०)

छप्पय

मृग तें ब्राह्मण वंश माहिं प्रकटे मुनि ज्ञानी ।
चरम देह है जिही भरत निश्चय करि जानी ।।
पिता पढ़ावें वेद मन्त्र देवें जपिबे कूँ ।
अण्ड सण्ड कछु बकें जतावें जड़ अपने कूँ ।।
हती बहिन इक जुड़ेली, दूसरि माँ के नौ तनय ।
कर्म कांड में फँसे ते, भरत लखें जग ब्रह्ममय ।।

हम किसी ग्रन्थ को आधा पढ़कर छोड़ दें, दस बीस वर्ष उसे न पढ़ें भूल जायँ । सामान्यतया हमारे लिये वह सम्पूर्ण ग्रन्थ

---

* जड़ भरत बता रहे हैं—"राजन् ! मुझे मृग शरीर में भगवान् कृष्ण की आराधना के प्रभाव से पूर्वजन्म की स्मृति बनी रही । इसीलिये इस ब्राह्मण शरीर में मैं जनसंग से असंग रहकर सदा शङ्कित मन से अपने को छिपाये हुए घूमता हूँ ।"

विस्मृत-सा हो जायगा, किन्तु यदि फिर से उसे पढ़ना आरम्भ करें तो जहाँ तक पहिले पढ़ा था, वह तो बहुत शीघ्र याद हो जायगा, विना पढ़ा भाग देर में स्मरण होगा। इसका कारण यही है कि यद्यपि हमें पहिला पढ़ा हुआ विस्मृत हो चुका है फिर भी उसकी धुँधली स्मृति हमारे हृदयपटल पर अंकित है। जब हम पहिले से पढ़ते हैं, तो उसमें श्रम नहीं होता। पढ़ते-पढ़ते याद हो जाता है। इसी प्रकार पूर्वजन्म की, की हुई साधना दूसरे जन्म में फिर से नहीं करनी पड़ती। जैसे विद्यार्थी आधा पाठ पढ़ के सो गया है, तो प्रातःकाल उसे फिर से नहीं पढ़ना पड़ता, जहाँ से छोड़ा है, वहीं से आरम्भ करता है। योग करते-करते यदि बीच में विघ्न बाधाओं के कारण योग खंडित हो जाय, योगभ्रष्ट हो जाय, तो ऐसे योगभ्रष्ट पुरुष पवित्र धर्मात्मा धनी पुरुषों के घर उत्पन्न होते हैं, जिन्हें शरीर निर्वाह के लिये कोई प्रयत्न न करना पड़े। साधन की सभी सामग्रियाँ विना श्रम के सुलभता से प्राप्त हो सकें, जिससे वे अपनी अधूरी साधना पूरी कर सकें। अथवा उसका जन्म शम, दम, तप, स्वाध्याय, वेदाध्ययन, त्याग, सन्तोष, तितिक्षा, विनय, विद्या, ह्री, श्री, दया, मैत्री, करुणा, मुदिता आदि गुणों से सम्पन्न योगियों के कुल में होता है, जिसके कारण उन्हें साधना के संस्कार वंश परम्परा से जन्म लेते ही प्राप्त हो सकते हैं। सारांश यही है कि योग में अन्तराय उपस्थित होने से पिछला योग का किया हुआ श्रम व्यर्थ नहीं होता। दूसरे जन्म में जहाँ से छोड़ते हैं वहीं से आरम्भ करते हैं।

श्री शुकदेवजी महाराज परीक्षित से कहते हैं—"राजन्! भरतजी ने गंडकी नदी में अपना आधा शरीर डुबाकर भगवान् के सुमधुर नामों का उच्चारण करते हुए मृग शरीर को त्याग दिया। यद्यपि अन्त में भगवान् का नाम लेकर उन्होंने तन का

त्याग किया था, उनकी मुक्ति हो जानी चाहिये थी, किन्तु मनुष्य शरीर की उत्कृष्टता दिखाने के लिये और अपनी रही सही साधना को तितिक्षा के द्वारा पूर्ण करने के लिये उन्हें एक शरीर और धारण करना पड़ा। वे एक आंगिरस गोत्र में परम कुलीन धार्मिक सद्गुण सम्पन्न ब्राह्मण के घर पुत्र रूप में उत्पन्न हुए।"

जिन ब्राह्मण के घर में राजर्षि भरत ने जन्म ग्रहण किया था उनका वंश बड़ा ही धार्मिक प्रसिद्ध पूजनीय और सम्माननीय था। उन ब्राह्मण श्रेष्ठ के दो भार्यायें थीं। सबसे बड़ी भार्या में उन्हीं के समस्त शील, सदाचार, विश्व विनय आदि गुणों से सम्पन्न ९ पुत्र उनके हुए। छोटी भार्या जो बड़ी सुशीला पति परायण विनयवती थी, उसके एक साथ दो बच्चे हुए। उन दो में एक कन्या थी एक पुत्र। जो पुत्र था वे ही राजर्षि भरत मृग शरीर त्यागकर उत्पन्न हुए।

ब्राह्मण ने अपनी पहिली पत्नी से उत्पन्न पुत्रों के विधिवत् जात कर्म आदि सभी संस्कार कराये, उपनयन कराके उन्हें स्वयं ही वेदों को पढ़ाया। वे सभी ब्राह्मी श्री से युक्त कर्मकांड के ज्ञाता त्र्यीविद्या में निष्णात हुए। वे यज्ञ स्वयं करते थे, दूसरों से भी कराते थे, वेद पढ़ते, पढ़ाते थे। दान देते थे लेते भी थे और निर्वाह के लिये कृषि भी कराया करते थे।

भरतजी अवस्था में भी सबसे छोटे थे और छोटी पत्नी के इकलौते पुत्र थे। प्रायः माता-पिता का सबसे छोटी संतान से औरों की अपेक्षा अधिक स्नेह होता है, तिससे भी छोटा कम बुद्धि का हो, तो उनका ममत्व और भी बढ़ जाता है। माता-पिता की हार्दिक इच्छा रहती है हमारे सभी पुत्र सुखी रहें, कोई भी दुःख न पावें। जो सयाने होते हैं, बुद्धिमान और कार्य कुशल होते हैं, उनकी माता-पिता को उतनी चिन्ता नहीं रहती।

वे समझते हैं, यह तो अपने बुद्धि बल से कहीं-न-नहीं से कमा खायगा। बुद्धिहीन तथा असमर्थ सन्तानों की माता-पिता को बड़ी चिन्ता रहती है। उन ब्राह्मण देवता के घर में किसी बात की कमी नहीं थी। यथेष्ट धन धान्य था। बहुत से गौ, बैल थे, निर्वाह के लिये पर्याप्त खेती होती थी, सभी पुत्र विद्वान् सुशील गुणी और मातृ पितृ भक्त थे, सभी के विवाह हो चुके थे। केवल भरतजी ही अबोध थे। ब्राह्मण को यही एक चिन्ता थी। वे चाहते थे—"किसी प्रकार मेरा यह पुत्र भी पढ़ लिख कर विद्वान् हो जाय तो मैं निश्चिन्त होकर मर सकूँ, नहीं तो मुझे इसकी चिन्ता लगी ही रहेगी। उनकी भरतजी के प्रति बड़ी ममता थी।"

भरतजी सब समझते थे। उन्होंने सोचा—"एक बार हरिन में ममत्व किया तब तो हरिन बनना पड़ा। यदि बाप में ममत्व हुआ तो निश्चय अगले जन्म में बाप बनना पड़ेगा। इसलिये जन्म से ही माता-पिता से उदासीन रहने लगे। उनकी माता उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करती, बार-बार पुचकारती, मुख चूमती। पिता अपना सम्पूर्ण स्नेह छोटे होने के कारण उन्हीं पर उड़ेलते, किन्तु उन्हें माता-पिता का वह स्नेह विष के समान प्रतीत होता। वे कभी हँसकर नहीं बोलते। सदा गुम्म सुम्म बने रहते। इससे माता-पिता को और भी सन्देह हुआ कि यह पागल तो नहीं है।"

जब इनकी अवस्था ५–६ वर्ष की हुई, तब पिता ने इनका विधिवत् बड़ी धूमधाम से यज्ञोपवीत संस्कार कराया। उपनयन संस्कार के पश्चात् वेदाध्ययन संस्कार होता है। ब्राह्मणों का मुख्य कर्म है श्रावणी उत्सव। वेदाध्ययन प्रायः उसी दिन से आरम्भ करते हैं। इसके पूर्व वसन्त और ग्रीष्म चैत्र वैशाख ज्येष्ठ और आषाढ़ चार महीनों में वेदाध्ययन की तैयारियाँ

कराते हैं। इन चार महीनों में प्रणव सप्तव्याहृति शिरोमन्त्र के सहित त्रिपदा गायत्री की सस्वर शिक्षा देते हैं। पद, घन, क्रम जटा स्वर आदि के सहित वेदमाता गायत्री को इस प्रकार याद करा देते हैं कि श्रावणी के दिन उसका शुद्ध-शुद्ध उच्चारण करके श्रावणी कर्म में सबके साथ सम्मिलित हो सके। फिर उसी दिन से वेदारम्भ कराते हैं।

भरतजी के पिता ने पहिले तो आचार की शिक्षा दी। क्योंकि आचार से ही धर्म की वृद्धि होती है। आचारहीन को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते। आचार बताकर अब वे गायत्री मन्त्र को कंठस्थ कराने लगे। भरतजी को अपने समीप बिठा लेते और बड़े प्रेम से कहते—"बेटा! देखो, जैसे मैं उच्चारण करूँ वैसे तुम करना।" दो चार वार तो भरतजी सुनकर भी अनसुनी कर देते। जब पिता वार-बार कहते तब सिर हिला देते।

पिता कहते—"अच्छा, कहो ओम्!"

तब आप कहते—"रोम्!"

इस पर पिता माथा ठोकते और कहते—"अरे यह ब्राह्मण कुल में कहाँ से मूर्ख पैदा हो गया। इसको एक अक्षर भी नहीं आता। किन्तु फिर भी वे छोड़ने वाले नहीं थे, पिता की आत्मा ही ठहरी। कहते—"बेटा! देखो ध्यान से सुनो, कहो ओम्।"

अबके आप कह देते—"बोम्।"

पिता फिर अप्रसन्न होकर दो चपत जमाते और कहते—"कैसा मूर्ख है, इससे प्रणव का उच्चारण भी नहीं किया जाता। यह आगे क्या पढ़ेगा। पिता को पता नहीं था इनकी पेट में दाढ़ी है यह सब पढ़े पढ़ाये हैं। इन्हें कर्म काण्ड और उपासना की अब आवश्यकता नहीं, ये तो जीवन्मुक्त हैं ज्ञान की चौथी भूमिका को पार करके पाँचवीं में स्थित हैं, जहाँ जगत् का भान ही नहीं होता। किन्तु कर्मकाण्डी पिता इसे कैसे समझते? पुत्र

के मोहवश वे भाँति-भाँति से भरतजी को ताड़ना करते। किन्तु भरतजी तो काली कमली की भाँति बने हुए थे उन पर दूसरा रङ्ग चढ़ ही नहीं सकता था। वे तो जान बूझकर अंट संट बोलते थे। बुद्धि के सागर होने पर भी बुद्धिहीनों के से आचरण करते थे। शास्त्रों के बहुश्रुत होने पर भी अपने को बहरों के समान प्रकट करते थे, ज्ञान के भंडार होने पर भी अपने को गूँगे पागल प्रदर्शित करते थे। वे तो संसार से सभी प्रकार से अनासक्त होकर रहना चाहते थे। वे सोचते थे संसार को जहाँ बुद्धि का चमत्कार दिखाया जहाँ कुछ सिद्धि प्रकट की वहीं फिर से बँध जायेंगे। संसार तो चमत्कार को नमस्कार करने वाला है। वाचालों के पीछे चलने वाला है। हमें संसार को तो रिझाना नहीं। जिसे रिझाना है वह घट-घट में व्याप्त है सबके मनोगत भावों को जानता है उसके सम्मुख प्रदर्शन की आवश्यता नहीं। अतः वे अपने को सिड़ी पागल बावरा-सा जनाने लगे। पिता ने शक्ति भर पूर्ण प्रयत्न किया, उन्हें शौच वेदाध्ययन व्रत, नियम, ब्रह्मचर्य गुरु सुश्रूषा, अग्नि परिचर्या आदि सभी कर्मों की शिक्षा देनी चाहीं। किन्तु वे तो चिकने घड़े बने हुए थे। उनके ऊपर पिता के उपदेश रूप जल की एक बिन्दु भी नहीं ठहरी। पिता का मनोरथ पूर्ण न हुआ, वे अपने सबसे छोटे पुत्र को अपनी बुद्धि से शिक्षित न बना सके। कनिष्ठ पुत्र की चिन्ता करते-करते पिता परलोक प्रयाण कर गये। भगवत् सेवा रूप जो मुख्य कर्म था उसे तो वे वैदिक ब्राह्मण भूले हुए थे, घर में यह नहीं है वह नहीं है यह लाना है वह जुटाना है पुत्र कैसे पढ़े, इसका निर्वाह कैसे होगा ऐसे मूर्ख को अपनी कन्या कौन देगा? इन्हीं की सब चिन्ता को करते-करते भाँति-भाँति के दुर्लभ मनोरथों का संकल्प करते-करते वे इस लोक से चल बसे। अपने पुत्र को पढ़ा न सके, काल ने उनके साथ कुछ

भी दया नहीं की। पुत्र के योग्य बनाने का उस निर्दयी ने अवसर ही नहीं दिया।

भरतजी के ब्राह्मण पिता मर गये। उनकी माँ ने अपनी बड़ी सौति से कहा—"जीजी! तुम्हारे तो ९ पुत्र हैं तुम बड़ी भी हो मेरे यह एक मूर्ख पुत्र है एक यह कन्या है। किसी योग्य वर को देखकर इस कन्या के पीले हाथ कर देना यह पागल पुत्र अपने भाग्य से जिस किसी प्रकार पेट भर ही लेगा। जैसे तुम्हारे ९ हैं वैसे इसे भी दशवाँ समझना। मैं तो अपने प्राणनाथ के साथ सती होऊँगी। तुम प्रसन्नता से मुझे अनुमति दे दो। इन बच्चों को मेरे सामने अपनी गोदी में ले लो।

अपनी छोटी सौति के ऐसे वचन सुनकर बड़ी विप्र पत्नी रोने लगी। उसने कहा—"बहिन! तुम ही भाग्यवती हो जो परलोक में भी पति के साथ जाओगी। अच्छी बात है तुम चलो मैं भी तुम्हारे साथ पीछे-पीछे आकर पति लोक में तुम दोनों के दर्शन करूँगी। तुम इन बच्चों की ओर से निश्चिन्त रहो। जैसे तुम्हारे बच्चे वैसे मेरे बच्चे। एक ही बाप से तो ये सब हैं। अपनी शक्ति भर मैं इन्हें कोई कष्ट न दूँगी।"

इतना सुनकर ब्राह्मण की छोटी भार्या अपने पति के साथ सती हो गई। अब तो भरतजी स्वतंत्र हो गये। माता-पिता दोनों ही चल बसे। अब "न आगे नाथ न पीछे पगहा" निर्द्वन्द्व होकर इधर से उधर पागलों की भाँति विचरण करने लगे। उनके हृदय में तो ज्ञान की ज्योति जल रही थी। जिन भगवान् का श्रवण, स्मरण, नाम गुण कीर्तन समस्त विघ्नों को दूर करने वाला है। उन श्रीहरि के युगल अरुण चरण कमलों को हृदय में धारण करके निरन्तर उन्हीं के ध्यान में निमग्न बने रहते थे। मूर्ख अज्ञानी संसारी विषयासक्त लोग कहते—"यह तो मूर्ख है, पागल है—तो आप उनके सम्मुख वैसे ही उत्तम पागल अन्धे,

बहरे और गूँगे के समान आचरण करने लगते। साक्षात् ऐसा प्रकट करते कि इनके पागल होने में किसी को तनिक भी सन्देह न रह जाता था, किन्तु ये तो ज्ञानियों के भी गुरु और योगियों के भी योगेश्वर थे।

छप्पय

पिता करे नित सोच भयो मम सुत लघु जड़मति।
मंत्र होहिँ नहिँ यादि करूँ श्रम हौं अति नितप्रति॥
कस होवै निर्वाह कवन करि काज खाइगो।
को जाके संग विप्र सुता अपनी ब्याहिगो॥
करत मनोरथ विप्र अस, काल पास महँ फँसि गये।
सती पिता सँग माँ भई, नहिँ रोये जड़ हँसि गये॥

भरत से जड़ भरत

[३२६]

नमो नमः कारणविग्रहाय
स्वरूपतुच्छीकृतविग्रहाय ।
नमोऽवधूत द्विजबन्धुलिंग--
निगूढनित्यानुभवाय तुभ्यम् ॥*

(श्रीभा० ५ स्क० १२ अ० १ श्लोक)

छप्पय

भये भरत निश्चिन्त फिरें मनमाने इत उत ।
विस्मय सोच न करें रहें नित ई प्रसन्न चित ॥
भीतर ज्ञान गँभीर भेद जग कूँ न बतावें ।
पागल जड़मति बुद्धिहीन सम सबहिँ जतावें ॥
जो ले जावे पकरि कें, चले जाहिँ सब कुछ करें ।
नासो कूसो जो मिले, उदर ताहिँ भखि के भरें ॥

संसारी पुरुष तो रात्रि दिन जड़ता का कार्य करते हैं, तिस पर भी बुद्धिमान् बताते हैं और ज्ञानियों को जड़ भरतजी

---

* जड़ भरतजी के अवधूत वेष को नमस्कार करते हुए राजा रहूगण कहते हैं—"जिन्होंने किसी कारण से ही शरीर धारण कर रखा है जो निज स्वरूप को अनुभव करते शरीर को तुच्छ समझकर उसकी चिन्ता नहीं करते, जो अवधूत जड़ ब्राह्मण के वेष में अपने नित्यानु-

मूर्ख पागल सिड़ी कह कर उनकी हँसी उड़ाते हैं। आप सोचिये यह पृथ्वी अनादि काल से चली आई है सदा इसी प्रकार प्रवाह रूप से चली जायगी। बड़े-बड़े प्रतापी राजा इसको अपनी-अपनी कहकर इसी में विलीन हो गये। पृथु, प्रियव्रत उत्तानपाद, मनु, नहुष, गय, मान्धाता, सगर, रावण, राम, न जाने कितने शूर वीरों ने इसे अपनी बताया, किन्तु यह किसी की हुई? उसी पृथ्वी में अपनापन करके दुखी होना यह जड़ता नहीं है? मिट्टी से मिट्टी को खाकर प्रसन्न होना यह मूर्खता नहीं है? चर्म से चर्म का संघर्ष करके आनन्द का अनुभव करना क्या पागल पन नहीं है? लाल, काली सफेद, और पीली मिट्टी में सोना चाँदी, ताँबा, लोहा मिट्टी का भेदभाव स्थापित करके रात्रि-दिन उसी की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते रहना यह सिड़ीपन नहीं तो क्या है? किन्तु माया मोह में फँसे प्राणी इस ओर तो ध्यान देते नहीं। उसी को बुद्धिमान् समझते हैं, जो सोना चाँदी के चार ठीकरें इधर-उधर से झूठ बोलकर एकत्र कर ले। जो इन व्यर्थ के व्यापारों से उदासीन हो जाता है, वह इन मूर्खों की दृष्टि में जड़ है अज्ञ है, सिड़ी है, पागल है, निकम्मा है, व्यर्थ है। मूर्खता की भी कुछ सीमा है, पागलपन का भी कहीं अन्त है। अपनी ज़ड़ता को बुद्धिमानी समझना और जो पुरुष ब्रह्म तक पहुँचे हैं इस क्षणभंगुर संसार की भावना सदा के लिये त्याग चुके हैं उन्हें अज्ञ लोग जड़मति बताते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! द्विज भरत के पिता परलोक वासी हो गये। वे अपने लघु पुत्र को पढ़ा न सके। अपने मनोरथ को अपूर्ण ही छोड़कर इस लोक से बिदा हो गये। भरतजी

भव भव-स्वरूप को छिपाये हुए हैं, उन अवधूत जड़ भरतजी के पादपद्मों में प्रणाम है, पुनः-पुनः प्रणाम है!"

ने सोचा—"चलो, झंझट दूर हुआ। नित्य की मारपीट कहा-सुनी से बचे।" उनके नौ बड़े भाई जो केवल कर्मकाण्ड रूप अपर विद्या को ही सब कुछ समझते थे, जिनका पराविद्या-ब्रह्मज्ञान में प्रवेश भी नहीं था, उन्होंने समझा यह तो मूर्ख है, यह पढ़ लिख नहीं सकता। अतः उन्होंने इन्हें पढ़ाने लिखाने का आग्रह नहीं किया। पिता तो पिता ही ठहरे, पुत्र कैसा भी मूर्ख हो, तो भी वे चाहते हैं कुछ पढ़ लिख जाय, किन्तु भाइयों को इतनी चिन्ता कहाँ हो सकती है। नहीं पढ़ता है तो न पढ़े, विद्या कुछ जड़ी बूटी तो है ही नहीं, जो घोट कर इन्हें पिला दें। परिश्रम करेगा, सुख पावेगा, नहीं इधर-उधर से मारा-मारा फिरेगा। यह सोच कर वे इनसे उदासीन हो गये। वे इनका आदर नहीं करते थे।

अन्य साधारण अज्ञ नर-पशु इन्हें पागल, मूर्ख गूँगा बहरा सिड़ी, जड़ न जाने क्या-क्या कहते। ये उनकी बात सुनकर हँस जाते और अपने को पागल ही प्रकट करते।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ये संसार सब स्वार्थी है। कोई भी पुरुष विना स्वार्थ के बात नहीं करता। जिनसे अपना स्वार्थ होगा, उनसे नाता न होने पर भी नाता निकाल लेंगे। आप हमारे मित्र के साले के साढू की भाभी की ननद के देवर के ममिया ससुर हैं। बताइये यह कोई नाता हुआ? किन्तु स्वार्थ सबसे बड़ा नाता है। भगवन्! ये मनुष्य संसारी स्वार्थ को ही सब कुछ समझते हैं अपना स्वार्थ साधने को बड़ी-बड़ी युक्तियाँ लगाते हैं। एक कहानी है कि एक आदमी अपनी गाड़ी में कहीं जा रहे थे। गाड़ी का पहिया टूट गया। एक गाँव में एक बेर के वृक्ष के नीचे गाड़ी खड़ी कर दी। लोगों से पूछा यह किनका पेड़ है। किसी ने बता दिया इसके सामने जो पक्का-सा घर है उन्हीं का यह पेड़ है। वे महाशय अपने को बहुत बुद्धिमान् लगाते थे अतः बड़े ठाट-बाट से उनके घर गये। संयोग की बात घर का बड़ा बूढ़ा

जो मालिक था वह बाहर गया था। जाते ही इन्होंने बच्चों से पूछा—"पंडितजी कहाँ गये हैं ?" लड़कों ने कहा—"जी वे तो बाहर गये हैं, आप कौन हैं ?"

इन्होंने कहा—"भैया, उनका हमारा घनिष्ट सम्बन्ध है। गाँव की बात थी, नगर की होती तो पूछताछ भी करते। बच्चों ने भीतर माता से कहा—बाहर हमारे सम्बन्धी आये हैं। अब क्या था मँजने लगी कढ़ाई छुन-छुन करके गरमागरम टकोरेदार पूड़ियाँ उतरने लगीं। भैंस के दूध में चावल डाल दिये, खीर बनी, सम्बन्धीजी ने पेट भर पूड़ियाँ उड़ाईं। डटे रहे दो चार दिन तक, उड़ाते रहे पूड़ी हलुआ। दो चार दिन में पंडितजी लौटे। देखा खीर घुट रही है। पूछा—"किसके लिये ये सब तैयारियाँ हो रही हैं ?" लड़कों ने बताया कोई हमारे सम्बन्धी आये हैं। पंडितजी सोच में पड़ गये कौन सम्बन्धी आ गये। शीघ्रता से उठकर बेर के पेड़ के नीचे गये। सम्बन्धी महाशय ने उठकर सत्कार किया। बातों ही बातों में बड़े संकोच से पंडितजी ने पूछा—"क्षमा कीजियेगा, मुझे स्मरण नहीं आ रहा है, हमारा आपका क्या सम्बन्ध है ?"

उन महाशय ने गम्भीरता के साथ कहा—"जी, हमारा आपका बादरायण सम्बन्ध है।"

पंडितजी बड़े चक्कर में पड़े, यह सम्बन्ध तो कभी सुना नहीं था। सोचकर बोले—"जी, मैं समझा नहीं बादरायण सम्बन्ध क्या होता है ?"

वे सम्बन्धी महाशय बोले—"देखिये, मेरी गाड़ी के पहिये बेर के वृक्ष के बने हैं और आपके घर में बेर का वृक्ष है, तो हमारा आपका बादरायण सम्बन्ध हुआ या नहीं ?" पंडितजी ने माथा ठोका और बोले बादरायण सम्बन्ध चाहे हो न हो, किन्तु खीर पूड़ी सम्बन्ध तो अवश्य ही है।" सो, महाराज ! जिनसे

अपना कुछ स्वार्थ निकलता है, मनुष्य उनका तो बड़ा आदर सत्कार करते हैं चाहे उनसे किसी प्रकार का भी कभी सम्बन्ध न रहा हो, किन्तु जिनसे किसी स्वार्थ की आशा नहीं होती, वह चाहे अपना सहोदर भाई ही क्यों न हो मनुष्य उनकी भी उपेक्षा कर देते हैं उसकी भी बात नहीं पूछते। ये भाव होते तो स्त्री पुरुष सभी में एक से हैं, किन्तु पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में इसकी मात्रा अधिक होती है। घर की स्वामिनी होने के कारण इनमें अपनापन अधिक होता है। अपने पति को पतली-पतली अच्छी सिकी चुपड़ी हुई गरमागरम रोटियाँ चुपके से दे देंगी। ससुर, जेठ, देवर को ठंडी मोटी तथा ऐसी वैसी ही भूल में सरका देंगी। पूछने पर कह देंगी—"हाय! मैंने देखी नहीं और ले लो इसे छोड़ दो।" विशेषकर देवरों पर तो इनका बड़ा ही रोष होता है। वे पुरुष भाग्यशाली हैं, जिनको स्नेहमयी भौजाई मिली हैं। नहीं तो भाभियों का सब रोष देवरों पर ही उतरता है। बासी कूसी बची खुची रोटियाँ देवरों के ही सिर मढ़ देती हैं, यदि वह बेकाम हुआ तो। कमाऊ देवर हुआ, तब उसका आदर पति से भी अधिक करती हैं।"

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! जड़ भरतजी की नौ भाभियाँ थीं। उनमें से कोई भी उन्हें फूटी आँखों देखना नहीं चाहती। सबसे पीछे उन्हें भोजन दिया जाता। वह भी कभी भूसी की रोटी बनाकर दे देतीं, कभी मूँग उड़द की दाल से जो चुन्नी बच जाती है, उसी की रोटी बनाकर देतीं। कभी बासी रोटी ही थमा दी। कभी भात बनाने की बटलोही में जो नीचे जले हुए चावल जम जाते हैं, उन्हें ही खुरचने से खुरचकर दे दिया। कभी घुने हुए चना उड़द ही भूनकर दे दिये। सारांश कि घर में जिस वस्तु को कोई नहीं खा सकता था, वही वस्तु भरतजी को मिलती। इन्हें कुछ स्वाद से तो प्रयोजन ही नहीं जो भी कुछ रूखा

सूखा मिलता, उसे ही भूख में यथेष्ट भरपेट खा लेते। इन्हें न घर की चिन्ता न बाल बच्चों की। ये गृहस्थी रात्रि-दिन चिन्ता में ही घुले रहते हैं, दूध मलाई खाकर भी इन्हें स्वाद नहीं आता। किन्तु विरक्त रूखे में ही निश्चिन्तता के कारण छप्पन भोगों का स्वाद लेता है निश्चिन्तता के कारण भरतजी का शरीर तगड़ा हो गया। वे मोटे ताजे साँड़ की भाँति इधर से उधर घूमने लगे। न कभी किसी को कटु वचन कहते न कभी क्रोध करते, इस कारण सभी इनसे सहज स्नेह करने लगे। ये एक मैला कुचैला फटा पुराना वस्त्र कटि में बाँधे रहते। वर्षा हो रही है तो वर्षा में ही पड़े हैं। जाड़ा है तो जाड़े में ही नंगे लेट रहे हैं। गरमी है तो धूप में ही आनन्द से लेट लगा रहे हैं। बच्चे इन्हें पकड़ लेते, कहते—"अरे जड़! बैठ जा।" ये बैठ जाते, कोई इन्हें घोड़ा बना लेता। इतने में ही कोई आदमी आकर बच्चों को डाँटता। बच्चे भाग जाते। तब वह इनसे कहता—"हमारी लकड़ी तो फाड़ दे।" ये इतना सुनते ही लकड़ी फाड़ने लगते। फाड़ते ही रहते हैं और चार आदमियों के बराबर काम कर देते। वह इन्हें भर पेट भोजन करा देता। बस ये उसी में प्रसन्न। इन्हें कुछ बाँधना तो था ही नहीं। लोग तो स्वार्थी होते ही हैं। जब सबने समझा यह अच्छा मजदूर मिल गया, बिना मजदूरी के ही काम करता है, तो जो चाहता इन्हें पकड़ ले जाता। ये बिना ननु नच किये उसके साथ हो लेते। किसी ने भर पेट भोजन दिया तो पेट भर के खा लिया, किसी ने कम दिया तो कम ही सही। किसी ने कुछ न दिया भूखे ही सो गये। माँगते नहीं थे। किसी ने इनके सिर पर बोझ लाद दिया और कहा—"हमारे साथ-साथ।" चल तो ये उसके साथ चल पड़ते। जहाँ तक ले जाता चले जाते। अंत में उसने कुछ पैसे दिये तो पैसे ले लिये कुछ न दिया, तो वैसे ही लौट आये। कभी भूख लगी तो किसी से माँग भी लिया।

अपने आप किसी ने दे दिया तो वहीं बैठकर खा भी लिया। न नहाना न धोना न हँसना न रोना। निर्द्वन्द होकर मस्त पड़े रहते, साँड़ की भाँति इधर से उधर हर्ष शोक से रहित होकर स्वच्छन्द घूमते थे, क्योंकि उन्हें स्वतः सिद्ध विशुद्ध ज्ञानानन्दरूप आत्मज्ञान प्राप्त हो गया था। इसीलिये उन्हें देहाभिमान की स्फूर्ति ही नहीं होती थी। यद्यपि उनकी कटि में मलिन वस्त्र बँधा रहता था, सम्पूर्ण शरीर पर मैल जमा रहता था तिस पर भी धूलि में लेटे रहने से अङ्ग धूलि धूसरित बने रहते थे, तो भी उनका ब्रह्मतेज स्पष्ट झलकता रहा। उनके गले में एक बहुत पुराना मैला-कुचैला यज्ञोपवीत पड़ा रहता, उसे न उन्होंने कभी उतारा न धोया। उसे ही देखकर लोग समझ जाते यह कोई नीच ब्राह्मण है या किसी अन्य द्विज वर्ण का पागल पुरुष है। गाँव वाले तो सब जानते ही थे। सभी उन्हें जड़-जड़ कहने लगे अतः अब वे भरत से जड़ भरत हो गये।"

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! नित्य ही ब्रह्मानन्द में निमग्न योगी पृथ्वी पर अनेक रूप रखकर विचरते रहते हैं, अतः भूलकर भी किसी को जड़ मूर्ख समझकर अपमानित न करना चाहिये। सभी को भगवत् रूप मानकर आदर की दृष्टि से देखना चाहिये। यही शास्त्रों का सार सिद्धान्त है।"

छप्पय

बोझ ढुवावै कोइ ढोइ ताके घर डारें।
फरवावै जो काष्ठ ताहि हँसिके वै फारें॥
भाभी जड़मति जानि स्वाद युत अन्न न देवें।
जर्‌यो भुनो जो देहिँ ताहि अमृत करि सेवें॥
हृष्ट पुष्ट तनु साँड़ सम, धूप शीत सब कछु सहहिँ।
रहें सदा निर्द्वन्द्व बनि, संसारी सिर्री कहहिँ॥

—०—

खेतों के रखवाले जड़ भरत जी

[३३०]

लोकः स्वयं श्रेयसि नष्टदृष्टि—

योऽर्थान् समीहेत निकामकामः ।

अन्योन्यवैरः सुखलेशहेतो—

रनन्तदुःखं च न वेद मूढः ॥*

(श्री भा० ५ स्क० ५ अ० १६ श्लोक)

छप्पय

भाइनि देख्यो काम काज सबई करवावें ।
तो फिर हम बैठाइ व्यर्थ क्यों जाइ खवावें ॥
ऐसो चाकर कहाँ मिले जो काम करे नित ।
किन्तु न माँगे दाम न जावे कबहूँ उत इत ॥
ऐसो मन महँ सोचिकें, दयो फावड़ो हाथ में ।
क्यारी रचना करन हित, खेत चले ले हाथ में ॥

कैसा भी हो भाई-भाई ही है। हम अपने भाई का कितना भी अपमान करें कितना भी तिरस्कार करें, कितना भी उसे भला बुरा

---

* ऋषभदेवजी अपने भरतादि पुत्रों से कहते है—"ये सांसारिक मनुष्य अपने वास्तविक श्रेय को न समझकर भाँति-भाँति की कामनाओं से नष्ट दृष्टि होकर लेश मात्र विषय सुख के निमित्त परस्पर में बैर भाव स्थापित करते हैं। किन्तु वे जड़मति पुरुष स्वयं यह विचार नहीं करते कि इस कार्य के करने से हमें नरकादि अनन्त दुःखों को भोगना पड़ेगा।

कहें उसे हम उचित ही समझते हैं, किन्तु जब कोई दूसरा हमारे भाई से कुछ कहता है, तो हमें चोट पहुँचती है। भाई के हित की दृष्टि से नहीं अपने सम्बन्ध की दृष्टि से। इससें हमारा अपमान है। हमसे उसका संबन्ध है, अपनी गौरव की रक्षा के लिये हम उसे सहन नहीं कर सकते। कौरव पांडव परस्पर में शत्रुओं की तरह लड़ते थे किन्तु जब खल दुर्योधन का यक्षों ने अपमान किया, तो इसे धर्मराज सहन न कर सके। उन्होंने स्पष्ट कह दिया—"जब हम परस्पर में लड़ते हैं, तो कौरव १०० भाई हैं, हम ५ भाई हैं, किन्तु जब कोई तीसरा लड़ने आवेगा तो हम १०५ भाई मिलकर उसका सामना करेंगे,तब हम १०५ भाई होंगे। यही है सम्बन्ध का ममत्व।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! संसार में भले बुरे सभी प्रकार के मनुष्य होते हैं। कुछ दयालु पुरुष मिलकर जड़ भरत जी के बड़े भाइयों के समीप गये और जाकर कहने लगे—"भले मानुषो! तुम ९ भाई हो, तुम्हारे यहाँ भगवान् की कृपा से भोजन वस्त्र की कमी नहीं है। अरे! घर में कुत्ता होता है उसे भी टुकड़ा डाल देते हैं। तुम ९ भाइयों के बीच में एक पागल भाई है, तुम लोग उसे भोजन नहीं दे सकते ?"

उस पर उनमें जो सबसे बड़ा था, उसने विनय के साथ कहने वाले ब्राह्मण से कहा—"पंडितजी! आप कैसी बातें कर रहे हैं। आपकी कृपा से हमारे यहाँ किसी बात की कमी थोड़े ही है, वह तो अपना सगा भाई ही है और १० आदमी आकर खायँ तो भी कुछ घाटा नहीं। हम उसे भोजन को मना तो करते नहीं। न उसे कहीं काम करने को कहते हैं वह अपनी इच्छा से ही इधर उधर घूमता है।"

वे वृद्ध ब्राह्मण बड़प्पन के स्वर में बोले—"देखो भैया! अपनी प्रतिष्ठा अपने हाथ है। तुम भले ही मेरी बात को बुरा

मान जाओ, किन्तु मुझे यह अच्छा नहीं लगता कि तुम्हारा भाई पेट के लिये घर-घर मजदूरी करता फिरे। उसे काम ही करना है, तो तुम्हारे घर में काम की कुछ कमी थोड़े ही है। घर का ही काम करे। तुम उसे किसी काम पर लगा दो। भैया! तुम्हारे पिता से मेरा बड़ा स्नेह था इसी नाते से मैंने तुमसे कह दिया। तुम कुछ और मत समझना।"

इस पर बड़ी विनय के साथ जड़ भरतजी के भाई ने कहा—"पंडितजी! आप हमें क्यों लज्जित कर रहे हैं। आपको तो हम अपने पिता के तुल्य मानते हैं। अब आप उसे कभी किसी अन्य का काम करते देखें तब हमें चाहे जो दण्ड दें। अब हम उसे घर के ही काम में लगावेंगे।" यह सुनकर वे ब्राह्मण चले गये। दूसरे दिन सब भाइयों ने सम्मति की—"जब यह दूसरों का काम करता ही है, तो क्यों न अपने ही काम में लगावें। पंडिताई पुरोहिताई तो इससे होने की नहीं। इसे खेत के काम में लगा दो।"

ऐसी सम्मति करके दूसरे दिन भरतजी से कहा—"अरे ओ जड़! तू इधर-उधर काम क्यों करता फिरता है? घर का ही काम क्यों नहीं करता? चल खेत पर काम किया कर।"

इनको क्या आपत्ति थी, फावड़ा कन्धे पर रख भाइयों के साथ खेत पर चल दिये। भाइयों ने दो चार क्यारी बनाकर कहा—"सायंकाल तक सब खेत को ठीक कर देना।" इन्होंने सिर हिलाकर कहा—"हाँ।" यह सुनकर भाई घर लौट गये।

अब इन्होंने सोचा—"आज यदि बुद्धिमानी से काम किया तो ये सदा मुझे तङ्ग करते रहेंगे। इसलिये इन्होंने गड्ढा खोदना आरम्भ कर दिया। खेतों में एक ओर तो खोदते-खोदते खाई बना दी, दूसरी ओर मिट्टी का पहाड़-सा लगा दिया। दिन भर

परिश्रम करते-करते सम्पूर्ण शरीर पसीने से लथपथ हो गया। सायंकाल को भाई आये। उन्होंने जब इनका यह कृत्य देखा तो चकित रह गये। बड़ा भाई बहुत क्रुद्ध हुआ। कुछ अंट संट बकने लगा। उस पर बीच के भाई ने समझाते हुए कहा—"भैया जी! आप क्यों व्यर्थ में क्रोध कर रहे हैं। अजी, उसमें बुद्धि ही होती तो पिताजी के इतने पढ़ाने पर एक अक्षर भी न पढ़ता! आपने भी उसे कैसा काम सौंप दिया। क्यारी बनाने में भी तो बुद्धि व्यय करनी होती है। आप इसे कोई दूसरा काम बताइये।"

यह सुनकर बड़े भाई ने कहा—"अच्छी बात है, खेत पर एक मन्च गाड़ दो। यहीं यह दिन रात्रि रहकर खेत खाने वाले पशु पक्षियों को भगाता रहे। इसमें तो बुद्धि की आवश्यकता नहीं।"

इस पर उस दूसरे भाई ने कहा—"हाँ, यह ठीक है। यहाँ मञ्च पर बैठा हुआ 'हो-हो' करता रहेगा पशु पक्षियों को भगाता रहेगा।" सब भाइयों की सम्मति होने से ऐसा ही किया गया। खेत के बीच में बड़ा-सा ऊँचा मञ्च गाड़ दिया गया उसे घास फूस से छा दिया गया। भरतजी को उस पर बिठा दिया और कह दिया—"सदा सावधान रहना, खेत को चिड़िया न चुगने पावें।"

इस काम से भरतजी अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। सोचने लगे, "चलो अच्छा हुआ झंझट कटा। न ऊधो का लेना न माधो का देना। यहाँ एकान्त में रहकर भगवत् भजन करेंगे और चैन की वंशी बजावेंगे।"

अब तो ये रात्रि दिन खेत पर ही वीरासन लगाये बैठे रहते। पशु पक्षियों को तो क्या भगाना था, वहाँ बैठकर भगवान् के पादपद्मों का प्रेमपूर्वक ध्यान करते। मन को भगवान् के रूप

माधुर्य में तन्मय कर देते। किसी समय इनके भाई बासी कूसी बची खुची रोटियाँ, दाल, भात, साग भेज देते। उन्हें ही प्रेम-पूर्वक भर पेट खाकर तालाब से पानी पी आते। कभी रोटी न आती तो खेत से बाल उखाड़कर उन्हें ही मींजकर चबा जाते। उन्हें न चिन्ता थी, न दुःख। पेट भर के खाते और तान दुपट्टा सोते। जाड़ों में धूप में भैंसे की तरह पड़े रहते गरमियों में पेड़ के नीचे लेट लगाते। वर्षात् में मैदान में पड़े रहते। बाल बढ़कर चिपट गये थे। लटायें बन गई थीं। दाढ़ी निकल आई थी। शरीर का चर्म जङ्गली भैंसे के समान काला और कठोर हो गया था। चलते समय वे हाथी के बच्चे की भाँति झूम-झूमकर चलते। जब दूर से देखते भाई आ रहे हैं तब हो-हो चिल्लाने लगते। जब वे चले जाते तो फिर ध्यान में मग्न हो जाते। उन्हें न सिंह का डर था न व्याघ्र का भय। भय को भी भयभीत करने वाले थे। वे इस संसार में जीवित अवस्था में ब्रह्मानन्द सुख का आनन्द लूट रहे थे। शीत उष्ण-मान अपमान, यश अपयश, सुख दुःख सभी में उनकी चित्त वृत्ति सम रहती थी। वे अनुकूल प्रतिकूल दोनों ही दशा में प्रसन्न रहते। सब लोग उन्हें पागल समझते थे, किन्तु वे यथार्थ स्वार्थ सम्पादन में सदा सावधान बने रहते। उन्हें कोई अपने पथ से च्युत नहीं कर सकता था।

उनके भाई उनकी इस उच्चावस्था को समझ नहीं सकते थे। कैसे समझे उन्होंने तो कर्मकाण्ड को ही सब कुछ समझ रखा था। वे तो अपने को कुलीन विद्वान् सर्वश्रेष्ठ समझे बैठे थे। उनके लिये तो स्वर्ग सुख ही सब कुछ था। मोक्ष मार्ग से वे सर्वथा अनभिज्ञ ही थे। ऐसे अनधिकारियों को भरतजी ने उपदेश देना भी व्यर्थ ही समझा क्योंकि ऊसर में बीज बोने से वह जमता नहीं। यदि उर्वरा जोती गोढ़ी भूमि में समय पर

विधिवत् बीज बोया जाय तो वह अंकुरित होकर फूलेगा फलेगा। भरतजी को जीवन में एक ही अधिकारी मिला। उसी के सामने उन्होंने अपना ज्ञान भंडार खोल दिया। उसी को उपदेश देने से भरतजी अजर अमर हो गये। उसी ज्ञान से असंख्यों भूले भटके प्राणी इस असार संसार को पार कर गये और आगे भी करते रहेंगे।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार अब श्री जड़-भरतजी खेतों के रखवारे बन गये।"

छप्पय

लयो फावड़े हाथ खेतकूँ लागे खोदन।
गड्ढा भारी खन्यो लगे सब भाई रोकन॥
कहें परस्पर बुद्धिहीन क्यारी न बनावें।
देहु मञ्च बैठाइ बैठिकें खेत रखावें॥
जैसे भाई कहहिँ वे, तैसो ई कारज करत।
नये बने अब खेत के, रखवारे श्रीजड़ भरत॥

—०—

बलि पशु बने जड़ भरतजी

[३३१]

आर्षभस्येह राजर्षेर्मनसापि महात्मनः ।
नानुवर्त्मार्हति नृपो मक्षिकेव गरुत्मतः ॥*
(श्रीभा० ५ स्क० १४ अ० ४२ श्लो०)

छप्पय

पुत्र हीन नृप-शूद्र मनौती मन में मानी ।
मानुष की बलि देहुँ पुत्र यदि देहि भवानी ॥
भयो पुत्र इक पुरुष पकरि बलिहित सब लाये ।
निशा माहिं भगि गयो दास अतिही घबराये ॥
बलि पशुकूँ खोजत फिरैं, सोचैं मूरख गयो कहँ ।
आये खोजत खेत पै, बैठे द्विजवर भरत जहँ ॥

यों सिद्धान्ततः संसार को निस्सार समझ लेना यह तो दूसरी बात है किन्तु विपत्ति में फँसने पर भी उसे विपत्ति न समझना, प्राणों पर आ बनने पर भी निर्विकार बने रहना, मृत्यु की तनिक भी चिन्ता न करना यही ज्ञानी का यथार्थ लक्षण है। वाचिक ज्ञान तो बहुतों को होता है, किन्तु अवसर पर काम न आवे, वह हृदय को स्पर्श न करे तो केवल व्यसन मात्र ही है। मन से यह

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महात्मा राजर्षि भरत के पथ का कोई नरपति उसी प्रकार मन में भी अनुसरण नहीं कर सकता, जिस प्रकार मक्खी गरुड़जी की बराबरी नहीं कर सकती।"

दृश्य प्रपञ्च हट जाय, अनुकूल प्रतिकूल वेदनाओं का हृदय पर कुछ भी प्रभाव न पड़े। समस्त व्यापारों में सदा सर्वदा श्रीहरि की इच्छा ही अवलोकन करना यही सच्चे स्थितप्रज्ञ का लक्षण है। श्रीजड़ भरत ने अपने जीवन में इस स्थिति को प्रत्यक्ष करके दिखा दिया।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भरतजी अब खेत के रखवाले बनकर भजन ध्यान में मग्न रहने लगे। उनके नगर के समीप ही एक शूद्र राजा था। उस समय जङ्गली जाति के बहुत से राजा होते थे, उनमें से अधिकांश रजोगुणी, तमोगुणी स्वभाव के होने से काली के उपासक होते थे, जो मांस मदिरा से भद्रकाली की पूजा किया करते थे। बकरा, भैंसा आदि तो काली के सम्मुख बलि देते ही थे, कभी-कभी मनुष्य की भी बलि देते थे। पूर्व के देशों में जहाँ अब भी काली देवी की पूजा का प्रचार है बलिदान की प्रथा प्रचलित है।"

उस शूद्र राजा के कोई सन्तान नहीं थी। उसने भद्रकाली के सम्मुख यह मनौती मानी कि, हे देवी! यदि मेरे पुत्र हो जाय तो मैं तुम्हें नरबलि दूँगा।

संयोग की बात, काली की कृपा से कुछ काल के अनन्तर राजा के पुत्र उत्पन्न हो गया। अब तो राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। भद्रकाली की बड़े समारोह से पूजा की तैयारियाँ होने लगीं। पूजा के उपयोग के सभी सामान जुटाये जाने लगे। सेवकों को आज्ञा हुई कि वे किसी सर्व लक्षण सम्पन्न पुरुष को बलिदान के लिये ले आवें। सेवक सर्वत्र घूमे किन्तु स्वेच्छा से सिर कटाने को कौन आता है, उन्हें कोई पुरुष पशु बलिदान के लिये न मिला। अन्त में अरण्य से एक पथिक को फुसलाकर पकड़ लाये। उस पुरुष ने आकर जब देखा कि ये लोग मुझे बलि देने को लाये हैं, तब तो वह अत्यन्त घबड़ाया। किन्तु उसने

कोई आपत्ति न की। सेवक उसे एक रस्सी से बाँधकर मन्दिर के समीप ही सो गये। जब सभी पहरे वाले सो गये तो वह पुरुष चुपके के उठा। शनैः-शनैः उसने अपने सभी बन्धनों को खोल दिया और पीछे के किवाड़ खोलकर भाग गया।

आधी रात्रि में नींद खुलने पर सेवकों ने जब देखा कि बलिदान वाला पुरुष भाग गया है, तब तो वे अत्यन्त घबड़ाये। वे परस्पर में कहने लगे—"देखो कल ही तो बलिदान का दिवस है, यदि राजा को यह बात मालूम पड़ गई, तो वह निश्चय ही हम में से ही किसी को बलिदान चढ़ा देगा। इसलिये जब तक राजा को मालूल न पड़े तब तक एक अन्य किसी पुरुष को यहाँ लाकर बिठा दो। इससे राजा का भी काम चल जायगा और हम लोगों के भी प्राण संकट में न पड़ेंगे।" यह सोचकर वे लोग किसी पुरुष की खोज में निकले।

संयोग की बात उन सेवकों को खेत पर वीरासन से बैठे द्विजों में सर्वश्रेष्ठ महामुनि परम ज्ञानी जड़ भरतजी दिखाई दिये। उनमें से कोई इन्हें जानता भी न था। उसने कहा—"अरे! यह जड़ बड़ा मोटा ताजा है। इससे जो भी कोई कुछ कहता है, वही कर देता है, यदि इससे हम साथ चलने को कहें, तो यह अवश्य साथ चल देगा। यह स्थूलकाय हृष्ट-पुष्ट भी है, राजा इसे देखकर बड़ा प्रसन्न होगा। भद्रकाली भी ऐसे मोटे मनुष्य की बलि से परम सन्तुष्ट होगी। यह कुछ आपत्ति भी न करेगा। पगला ही ठहरा इसे ही पकड़ ले चलो।"

अर्थी दोष को नहीं देखा करते।

राजसेवकों ने भरतजी के समीप जाकर कहा—"अरे, ओ पगले! तू हमारे साथ अभी चल, हम तुझे लड्डू खिलावेंगे।" इन्हें लड्डू पेड़ाओं का तो लोभ था नहीं, उन्होंने चलने को कहा ये चल पड़े। सेवकों ने इन्हें चारों ओर से कसकर रस्सियों से

बाँध दिया कि अबके यह भागने न पावे। इन्होंने रस्सियों से बँधने पर भी कोई आपत्ति नहीं की। रात्रि में ही इन्हें लाकर मन्दिर में बिठा दिया।

प्रातःकाल हुआ। राजा अपने पुरोहित को साथ लेकर आया। उसने आते ही बलिदान के पुरुष को देखा। देखते ही उसने कहा—"अरे कल तो यह बड़ा दुबला पतला था, रात्रि भर में ही यह इतना मोटा कैसे हो गया?"

सेवकों ने कहा—"महाराज! रात्रि भर इसने माल उड़ाये हैं, फिर देवीजी की कृपा तो है, उनकी महिमा कौन जान सकता है? देखिये, यह कैसा प्रसन्न हो रहा है।" राजा ने फिर विशेष पूछताछ नहीं की उसे तो बलि देने से प्रयोजन था। कोई बलि-पशु क्यों न हो।

वह जङ्गली दस्युओं लुटेरों का राजा था। अपने गणों के सहित लूटपाट करके जङ्गल में किला बनाकर रहता था। दस्युओं के भी काल में धर्म कर्म प्रचलित था। वे भी अपने साथ पुरोहितों को रखते थे और अपने इष्टदेव की धूमधाम से विधि विधान पूर्वक तामसी पूजा किया करते थे। दस्युराज के यहाँ बलिदान की तैयारियाँ होने लगी। भरतजी तो बलि पशु बनाये गये थे। बलिदान के पूर्व बलिपशु में देवता का आवाहन किया जाता है, विधिपूर्वक उसकी पहिले पूजा होती है, तब बलिदान चढ़ाया जाता है।

दस्युराज के सेवकों ने भरतजी को सबसे पहिले विधिपूर्वक स्नान कराया। इन्होंने सम्भव है छठी के दिन ही स्नान किया हो, या पिता ने कभी बलपूर्वक स्नान कराया हो, नहीं तो इन्हें स्नान से क्या काम? आज उबटन लगाकर सुगन्धित द्रव्यों से इनका स्नान हुआ। स्नान कराके इन्हें कोरे वस्त्र पहिनाये गये। सम्पूर्ण शरीर में सुगन्धित चन्दन लेपा गया, नाना प्रकार के

आभूषण पहिनाये गये, सुगन्धित पुष्पों की मालायें धारण कराई गईं तब अनेक प्रकार के व्यञ्जन इनके सामने भोजन के लिये रखे गये। ये दो दिन के भूखे थे। आँख मूँदकर सपट्टा खाना आरम्भ किया। खट्टे मिट्ठे का तो इन्हें विचार ही नहीं। जो आ जाय। लड्डू आ गया तो समूचे लड्डू को निगल गये। दही बड़ा आ गया तो उसे ही उड़ा गये। इस प्रकार बड़े आनन्द से पेट भर के भोजन किया।

श्रीशुक कहते हैं—"महाराज! इन महान् ऋषि ज्ञानी की निर्द्वन्द्वता तो देखिये। मृत्यु सम्मुख खड़ी है। सब समझ रहे हैं, कि ये दस्यु मुझे काली के सामने बलि देंगे। अभी तीक्ष्ण खड्ग से मेरे सिर को धड़ से पृथक् कर देंगे, किन्तु इसकी तनिक भी चिन्ता न करते हुए बड़े आनन्द से भोजन पा रहे हैं। न मरने से भय न प्राणों का मोह। जो हो रहा है उसी में मग्न हैं उनके लिये अनुकूल प्रतिकूल में कोई भेद ही नहीं।"

जब भरतजी ने पेट भर खा लिया। बड़े जोर से डकारे लीं पेट पर हाथ फेरा। फिर सेवक साथ में धूप, माला, फल, फूल, खील, ईख, पत्ते, कण्ठसूत्र, जव के अंकुर विविध प्रकार के नैवेद्य आदि पूजा की सामग्रियों के सहित बड़ी धूमधाम से गाजे-बाजे के सहित बलिदान के स्थान पर चण्डी के सम्मुख ले चले। ये हँसते हुए आगे-आगे मत्त गयन्द की भाँति चले जा रहे थे। सभी डाकू आश्चर्य कर रहे थे कि पहिले कभी नरबलि दी जाती थी तो बलिदान का पुरुष रोता हुआ दुखित मन से जाता था, यह तो विचित्र बलिपशु है, जो अपने आप ही हँसता हुआ जा रहा है। किन्तु उन्हें पता नहीं था यह पशु नहीं पशुपति है, नर नहीं नरर्षभ है। काली भी इनके चरणों की धूलि को पाकर अपने को धन्य मानती हैं।

जड़ भरतजी बलिपशु बनाकर प्रदर्शन के सहित मन्दिर में

ले जाये गये। वहाँ पहिले तो दस्युओं के पुरोहित ने अनेक मंत्रों से भद्रकाली की पूजा की। फिर उस चमचमाते हुए खड्ग को निकाला जिससे बलिपशु का सिर धड़ से पृथक् करके उसके उष्ण रक्त से देवी को सन्तुष्ट किया जायगा। उस खड्ग को सम्मुख रखकर उसकी पूजा की और देवी के मन्त्रों से उसे विधिवत् अभिमन्त्रित किया।

जड़ भरतजी यह सब लीला अपनी आँखों से चुपचाप बैठे देख रहे थे, उनके मन में न हर्ष था न विषाद। उन्हें न मरने का भय था न जीने की चिन्ता। वे तो सभी में समभाव किये बैठे थे। वे तो ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करके सर्वत्र श्री हरि को ही देखते थे। शरीर में अहंभाव हो तब तो उसकी रक्षा का प्रयत्न भी किया जाय, वे तो अहंता ममता को घोटकर पी चुके थे। इसलिये न उन्हें खड्ग से भय हुआ, न पुरोहित के कार्यों से उद्वेग। वे इन कार्यों को खेल समझ रहे थे।

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! ऐसे समभाव में स्थित योगी की बलि तामसी देवी कैसे सहन कर सकती हैं। देवी का भी आसन डोल गया। वह भी घबड़ा गई। उसे भी उन दस्युओं पर क्रोध आ गया। तामसी प्रक्रिया में यही तो एक बात है। लग गई तो ठीक है न लगी तो उलटी करने वाले के सिर पड़ती है।"

छप्पय—तिनि बाँधे अवधूत भरत समदर्शी ज्ञानी।
भये न विचलित तनिक मृत्यु सम्मुख हू जानी॥
न्हाइ पहिनि नव वस्त्र उड़ाई अधिक मिठाई।
खाइ भये निश्चिन्त फेर बलि वारी आई॥
दस्यु पुरोहित पूजि असि, द्विजवर के सम्मुख धरी।
नहीं सोच विस्मय नहीं, ज्ञानी लखि काली डरी॥

—०—

भद्रकाली की बलि से बचे अवधूत जड़भरत

[२३२]

हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः ।
साधुः समत्वेन भयाद् विमुच्यते *॥

(श्रीभा० १० स्क० ७ अ० ३१ श्लोकांश)

छप्पय

निरखि घोर अन्याय भई देवी विकराली ।
मूर्ति फोरि पट प्रकट भई सहसा चट काली ॥
तड़तड़ाइ करि क्रोध ओठ जिह्वा तें चाटे ।
खड्ग लिये कर फिरें दस्यु सिर धड़ते काटे ॥
उष्ण रक्त मद पान करि, अट्टहास ते नभ भर्यो ।
कन्दुक सम सिर फेंकि के, जोगिन सँग कौतुक कर्यो ॥

यद्यपि तमोगुण की शक्तियाँ प्रबल होती हैं, फिर भी सत्व-गुण के सम्मुख उनका कुछ भी वश नहीं चलता। थोड़े पापी को बड़ा पापी दबा देता है, निर्बल सतोगुणी के सम्मुख सबल तमोगुणी जीत जाता है, किन्तु जिनमें तम आदि का लेश भी नहीं जो नित्य ही सत्व में स्थित रहते हैं, उनके सामने प्रबल से प्रबल शक्ति पराजित हो जाती है। स्वयं किसी को दंड नहीं

* श्रीशुक कहते—"राजन् ! हिंसा करने वाला दुष्ट पापी अपने पाप से स्वयं ही मारा गया। यह लोकोक्ति अक्षरशः सत्य है कि साधु पुरुष अपनी समता के कारण सभी प्रकार के दुःखों से स्वतः ही छूट जाते हैं।"

देते। अपने ऊपर धूलि फेंकने वाले पर सूर्य कुपित नहीं होते किन्तु स्वभाव वश वह धूलि फेंकने वाले के ही सिर पर पड़ती है। इसी प्रकार साधुओं को जो कष्ट पहुँचाते हैं, उन्हें स्वयं कष्ट उठाने पड़ते हैं जो स्वयं समभाव में स्थित हैं, उन्हें क्लेश हो ही कैसे सकता है।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! ज्यों ही उन डाकुओं के पुरोहित ने देवी के मन्त्रों से अभिमन्त्रित खड्ग को उठाकर जड़ भरतजी की वलि देनी चाही, त्यों ही देवी ब्राह्मण के तेज को न सह सकने के कारण काँप उठी। ब्रह्मतेज के अपमान के कारण देवी के सम्पूर्ण शरीर में असह्य दाह होने लगी। देवी अपने स्थान पर स्थित न रह सकी। लोगों के देखते-देखते गड़-गड़ान तड़तड़ान की ध्वनि होने लगी। सहसा भद्रकाली मूर्ति को फोड़कर विकराल रूप से प्रकट हो गयी। उसका मुख-मण्डल अति भयानक हो रहा था। अत्यन्त असहनशीलता और क्रोध के कारण उसकी भृकुटियाँ चढ़ी हुई थीं। जीभ लपलप कर रही थी, बार-बार जीभ से ओठों को चाटती और हुङ्कार शब्द से दशों दिशाओं को गुञ्जायमान कर रही थी। वह दाँतों को पीसती हुई ऐसी प्रतीत होती थी, मानों सम्पूर्ण सृष्टि का संहार ही कर डालेगी। दस्युओं को भयभीत देखकर उसने बड़े वेग से अट्टहास किया। पर्वत की कन्दरा के समान उसके मुख में हल की फार के समान कराल दाढ़ें चमक रही थी लाल-लाल चञ्चल नेत्रों से मानों रक्त की वर्षा कर रही हो। सहसा भद्रकाली ने उछलकर सम्मुख रखी हुई अभिमंत्रित खड्ग को अपने हाथ में उठा लिया और पैतरा बदलते हुए उन डाकुओं के सिर को उसी प्रकार धड़ से काटने लगी जिस प्रकार इन्द्र अपने वज्र से पर्वतों के शिखरों को काटते हैं।

देवी भद्रकाली की संगिनी डाकिनी साकिनी जोगिनी आदि

उत्पन्न होकर देवी के संग दस्युओं के धड़ों से बहने वाले उष्ण रक्त का पान करने लगीं। उस गरमागरम रक्त को पीकर सभी पगली-सी होकर केश बखेर कर नाचने कूदने हँसने तथा गाने लगीं। अब तो देवी को एक नया खेल सूझा। जिसके सिर को धड़ से काटती उसे गेंद की तरह ऊपर फेंक देती। दूसरी देवी उसे बीच में ही थाम लेती। उससे छीनकर तीसरी उछालती इस प्रकार सभी मिलकर हँसती हुई कन्दुक क्रीड़ा करने लगीं।

भरतजी बैठे-बैठे हँस रहे थे, उन्हें न अपनी मृत्यु से कोई असन्तोष था, न दस्यु के शिरश्छेदन से सन्तोष। वे इसे भी भगवान् की एक क्रीड़ा ही समझकर मन-ही-मन मुस्करा रहे थे।

इस पर महाराज परीक्षित ने पूछा—"भगवन्! ऐसा क्यों हुआ? कैसा भी सही दस्युराजा तो भद्रकाली का भक्त ही था, देवी को उन ब्रह्मर्षि कुमार का वध अभीष्ट नहीं था, तो उन्हें पृथक् कर देतीं। एक के अपराध पर सबकी हत्या क्यों कर दी।"

यह सुनकर शुकदेवजी बोले—"राजन्! मन्त्र प्रयोग से दूसरों का प्राणान्त करना इसे अभिचार कहते हैं। अभिचार सदा अपवित्र और असावधान पुरुषों पर चलता है। जो पवित्र हैं, भगवद्भक्त हैं उन पर जादू टौना अभिचार मारण, मोहन उच्चाटन आदि नहीं चलते। जैसे धनुष से छूटा बाण व्यर्थ नहीं जाता, वैसे ही अभिचार का मन्त्र प्रयोग व्यर्थ नहीं होता जिसके उद्देश्य से अभिचार किया गया है, उस पर निरर्थक हुआ तो उलटा करने वाले पर पड़ता है। काशिराज के पुत्र ने भगवान् द्वारकाधीश पर कृत्या का प्रयोग किया था, इससे उलटकर कृत्या ने उसे ही उसके नगर को सेना वाहन सहित नष्ट कर दिया। महर्षि दुर्वासा ने परम भगवद् भक्त अम्बरीष के ऊपर कृत्या का प्रयोग किया था, जिसके कारण उन्हें एक वर्ष तक मारे-मारे

सभी लोकों में सुदर्शन चक्र के भय से घूमना पड़ा। देखिये, ब्राह्मण को सर्वत्र अवध्य बताया है, घोर आपत्तिकाल में साधारण ब्राह्मण को भी न मारे फिर जो निर्वैर है, स्वयं साक्षात् ब्रह्म भाव को प्राप्त हो चुके हैं, सम्पूर्ण प्राणियों के सुहृद् हैं ऐसे ब्रह्मर्षि का भूल से भी वध करना महापाप है। इन लुटेरे और दस्युओं का स्वभाव रज और तम से आच्छादित हो गया था। लूटपाट से एकत्र किये धन के बढ़ जाने से ये मदोन्मत्त हो गये थे। तभी तो भगवान् के अंशभूत इन ब्राह्मण के गले में यज्ञोपवीत देखकर भी दुष्टों ने कुछ भी विचार नहीं किया। इनकी बलि देने को उद्यत हो गये। इसे देवी क्षमा कैसे कर सकती थी। इनके पाप का घड़ा भर गया। पाप का धन कुछ काल ही फलता फूलता-सा दिखाई देता है. अन्त में जड़ मूल से सम्पूर्ण कुल का नाश करके स्वयं भी नष्ट हो जाता है। अब तक तो देवी इन्हें क्षमा करती रही, किन्तु जब इन्होंने ज्ञान स्वरूप ब्राह्मण के साथ अन्याय किया, तो देवी ने सबको स्वाहा कर दिया। वैसे भरत ने न शाप दिया न बलि देने से निषेध ही किया, वे तो बड़े हर्ष से बलि होने को उद्यत थे।"

इस पर महाराज परीक्षित ने पूछा—"प्रभो! यह तो बड़े आश्चर्य की वात। देखिये जब तक इस शरीर में प्राण हैं, तब तक शरीर का कुछ-न-कुछ मोह तो होता है। कैसा भी ज्ञानी हो प्राण रक्षा तो वह भी करता ही है। भरतजी बाह्यक्रिया शून्य तो थे ही नहीं। खाते पीते थे, सबकी बातें समझते थे, व्यवहार सम्बन्धी कार्य भी किसी प्रकार करते ही थे। फिर उन्होंने बध के समय कुछ भी आपत्ति नहीं की! कुछ तो कहते और न सही अपना परिचय ही दे देते।"

यह सुनकर श्रीशुक दृढ़ता के स्वर में बोले—"राजन्! आप

इस विषय में सन्देह न करें। देखिये, अज्ञानी पुरुषों के हृदय में ही इस अनित्य क्षण भंगुर देहादि में आत्मभाव की दृढ़ ग्रन्थि पड़ जाती है, ज्ञानी पुरुष उस हृदय की ग्रन्थि को ज्ञानरूप खड्ग से काट देते हैं। वे ब्रह्मस्वरूप ही हो जाते हैं, उनकी रक्षा भगवान् वासुदेव सदा अपने सुदर्शन चक्र से किया करते हैं। ऐसे ज्ञानी पुरुष स्वयं न किसी से वैर करते हैं न किसी का अनिष्ट चाहते हैं। उनके लिए सिर कटने का अवसर उपस्थित होने पर, किसी प्रकार की व्याकुलता, चिन्ता प्रकट न करना, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अजी, उनके मन में तो भेदभाव रहता ही नहीं प्राण रहें तो तैसे, जायँ तो तैसे।"

यह सुनकर राजा ने पूछा—"हाँ तो भगवन्! फिर क्या हुआ?"

श्रीशुक बोले—"फिर क्या जो होना था, सो हो गया। सबका सिर काटकर भद्रकाली अपनी सङ्गिनी योगिनियों के सहित अन्तर्धान हो गई। भरतजी उठकर वहाँ से चले गये। अब वे अपने गाँव में न गये। उन्होंने सोचा—"कौन खेत रखावे अब तो वे अलक्षित भाव से परमहंस वृत्ति में अपने ज्ञान को छिपाये इधर से उधर स्वेच्छापूर्वक घूमने लगे। उन्होंने कोई वेष नहीं बनाया था। किसी वर्ण आश्रम का चिन्ह धारण नहीं किया था। वाल बढ़ रहे हैं, तो बढ़े ही सही। कटि में मैला कुचैला एक कपड़ा बाँधे रहते थे। एक बहुत पुराना जीर्ण-शीर्ण जनेऊ भी उनके गले में पड़ा रहता था। इतने बड़े शरीर के बोझ को जब ढो रहे हैं, तो जनेऊ से क्या द्वेष? पड़ा है तो पड़ा रहे। इस प्रकार परमहंस वृत्ति में वे निर्द्वन्द्व होकर विचरण करने लगे।"

छप्पय

दुखी होहिं कस सदा रहें जे हरि पदसेवी ।
काटि सबनि को शीश भई अन्तर्हित देवी ।।
उदासीन ह्वै चले महामुनि अतिशय ज्ञानी ।
हर्ष विषाद न हृदय दैव की इच्छा जानी ।।
जग में जो जस करेगो, सो तैसो ई भरेगो ।
डूबेगो हरि विमुख ह्वै, प्रभुपद तें भव तरेगो ।।

राजा रहूगण की जड़ भरतजी से भेंट

[३३३]

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेत्
जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः ।
सत्संगमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते मतिः ॥ *

(श्रीभा० १० स्क० ५१ अ० ५४ श्लोक)

छप्पय

इक दिन आये भरत फिरत तट इक्षुमतीके ।
लखे चौधरी तहाँ सिन्धु सौवीरपतीके ॥
कपिलदेव ढिँग जायँ रहूगण भूप विचारे ।
शिविका धीवर नहीं खोजि सेवक सब हारे ॥
मोटे ताजे जड़भरत, कूँ लखि सब प्रमुदित भये ।
पकरि पालकी में दये, सब कहार सँग लगि गये ॥

---

* भगवान् की स्तुति करते हुए राजर्षि मुचुकुन्द कहते हैं—"हे अच्युत ! इस संसार चक्र में नाना योनियों में घूमते-घूमते जब मनुष्य के जन्म-मरण रूप संसार के अन्त होने का समय सन्निकट आता है, तब उसे संत पुरुषों का सत्संग प्राप्त होता है । अर्थात् सभी को सत्संग प्राप्त नहीं हो सकता । जिसे सत्सङ्ग प्राप्त हो चुका है, उस पुरुष का उस समय कार्य, कारण के नियन्ता सत्पुरुषों के आश्रय रूप आप में उसकी मति होती है । अर्थात् आपके चरणों में प्रीति उत्पन्न होती है ।"

पात्रता के बिना संसार में कुछ नहीं। पात्रता प्राप्त होती है, भगवत् कृपानुभव से। भगवान् की कृपा दृष्टि तो निरन्तर जीव मात्र के ऊपर होती ही रहती है, फिर भी सब उसका अनुभव नहीं कर सकते। वर्षा तो सभी स्थानों में समान रूप से होती है, किन्तु उर्वरा भूमि वर्षा का जल पाते ही हरी भरी हो जाती है, ऊसर भूमि ज्यों-की-त्यों ऊसर ही बनी रहती है। साधुओं के सिद्ध पुरुषों के ज्ञान में अनजान में दर्शन सभी को होते हैं, किन्तु जो अधिकारी हैं, वे तो उनके दर्शनों से लाभ उठाते हैं, उनकी कृपा के अधिकारी बन जाते हैं जो अधिकारी नहीं हैं—अनधिकारी हैं—वे कोरे के कोरे ही रह जाते हैं। अधिकारी को साधु सङ्ग इच्छा से अनिच्छा से कैसे भी हो जाय। उसका कल्याण हो ही जायगा। स्वयं संत महात्मा और सिद्धों की कृपा को प्राप्त करने में समर्थ कौन हो सकता है? कृपा करके वे ही अनुग्रह कर दें, तब भले ही कुछ हो सके। उनके हृदय में किसी कारण से करुणा उत्पन्न हो जाय, तो जीव का कल्याण-ही-कल्याण है। सिद्ध लोग प्रायः अपने को संसारी लोगों पर प्रकट करते नहीं, वे सदा अपने को छिपाये उन्मत्त पागलों की भाँति घूमा करते हैं। कभी किसी पर कृपा करते हैं, तो विचित्र प्रकार से करते हैं। उससे लड़ पड़ते हैं, उससे मार खाते हैं, कभी-कभी व्यङ्ग वचन बोलकर उसे अपनी ओर आकर्षित करते हैं, जब इनकी ओर आकर्षण हो जाता है, तो उसे परमार्थ पथ का रहस्य बताकर जन्म-मरण से छुड़ा देते हैं। ऐसे सिद्ध इस धराधाम पर सदा से रहे हैं, सदा रहेंगे। इनके बिना पृथ्वी टिक नहीं सकती। १०–१०, २०–२० कोस पर एक सती एक सिद्ध गुप्त रूप से रहते ही हैं नहीं तो संसार की प्रलय ही हो जाय। उन्हीं का धर्म तो इस जगत् को धारण किये हुए हैं। वे ही तो जगत् की स्थिति को चला रहे हैं। ये सिद्ध भगवान् के अंश किसी

कारण से विग्रह धारण किये हुए जीवन्मुक्त चरम शरीर वाले होते हैं। किसी को ये अपने को जनाते नहीं, यही नहीं जान बूझकर अपने को छिपाते हैं। जब वे स्वयं ही छिपाना चाहेंगे, तब फिर भला इन विषय के कीड़े संसारी मनुष्यों की क्या सामर्थ्य है जो उन्हें समझ सकें। भाग्य से किसी विरले के सम्मुख ये अपना ज्ञान विज्ञान निर्भय होकर प्रकट करते हैं। जड़ भरतजी को आज तक सभी ने पागल सिड़ी ही समझा। वे अपने को प्रकट ही ऐसा करते थे, किन्तु भाग्यवश सिन्धु सौवीर देश के राजा रहूगण ने उनका यथार्थ रूप समझा। अधिकारी समझ कर भरतजी ने उस पर कृपा की। उसे जो ज्ञान दिया, वह परमार्थ का सार है उससे बढ़कर अद्वैत का उत्कृष्ट ज्ञान हो ही नहीं सकता। भरतजी ने राजा से कहने योग्य सभी बातें सार रूप में कह दीं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भरतजी बलि के बकरा बन चुके थे, भद्रकाली ने डरकर उन्हें बलि न होने दिया। देवी द्वारा दस्युओं का वध हो जाने पर ये हाथ हिलाते हुए वहाँ से चल दिये और जङ्गली साँड़ की भाँति इधर से उधर घूमने लगे। घूमते घामते दैववशात् ये इक्षुमती नदी के तीर के प्रदेश में पहुँच गये। संयोग की बात उसी समय सिन्धु सौवीर देश के राजा रहूगण वहाँ पालकी पर चढ़कर आ पहुँचे। राजा बड़े धर्मात्मा थे परमार्थतत्व के जिज्ञासु थे, इस असार संसार में कौन-सी वस्तु सार है इसे पूछने वे ज्ञानावतार भगवान् कपिल के आश्रम की ओर जा रहे थे। उस काल में प्रायः राजागण या तो रथों पर जाते थे या शिविका पर। शिविका की सवारी सुखकर और श्रेष्ठ समझी जाती थी। राज्य में कुछ-कुछ दूर पर किन्हीं-किन्हीं परिवार वाले लोगों को राज्य की ओर से आजीविका बँधी रहती थी। वे उस आजी-

विका का सदा उपभोग करते। जब कभी राजा की, राजपुत्र की या राज्य के प्रधान कर्मचारी की सवारी उधर से निकलती थी, तो उनका कर्तव्य होता था वे अपनी सीमा तक उन्हें पहुँचा दें। नौकर दो प्रकार के होते हैं। एक तो वेतनभोगी एक विष्टि भोगी (वेगारी) वेतन भोगी नौकरों को तो मासिक या प्रतिदिन के हिसाब से मजदूरी दी जाती है और जो विष्टिभोगी हैं उन्हें वंश परम्परा से राज्य से वृत्ति मिलती है उन्हें तत्काल कुछ भी नहीं दिया जाता। ऐसे ही विष्टिभोगी कहार राजा की पालकी को लिये जा रहे थे।

इक्षुमती नदी के तट पर पिछले विष्टिभोगी कहारों की सीमा समाप्त हो गयी थी। कहारों के कुलपति (चौधरी) ने पिछले कहारों को छोड़ दिया इधर-उधर से नये कहार लाकर पालकी में लगा दिये। फिर भी एक कहार की कमी पड़ी। राजा के नौकर उद्दण्ड तो होते ही हैं। राजन्! आपको स्वयं ही अनुभव होगा। वे अपने स्वामी के बल भरोसे प्रजा के लोगों को तृण समान समझते हैं। उन्हें बड़ा अहङ्कार होता है जिससे जो चाहें करालें। उस कहारों के कुलपति ने सोचा—"अब गाँव में कहार को खोजने कौन जाय, जो भी सामने पड़ जाय उसे ही पालकी में लगा देना चाहिये। यह सोचकर यह इधर-उधर घूम रहा था, कि उसकी दृष्टि भरतजी पर पड़ी। शरीर से काले तो थे ही, सदा नग्न रहने के कारण शरीर का चर्म जङ्गली भैंसे के समान मोटा हो ही गया था। वस्त्र मैले कुचैले थे। शरीर हृष्ट पुष्ट था। मस्त हुए इधर से उधर घूम रहे थे उसने सोचा—"यह कोई शूद्र है। अच्छी बात है इसे ही पालकी में लगा दो यह सोचकर उसने कड़क कर अधिकार के स्वर में कहा—"अरे तू कहाँ जा रहा है? चल महाराज की

पालकी ढो। तुझे महाराज को अगले पड़ाव तक पहुँचाना होगा।"

इन्हें क्या आपत्ति होनी थी बिना ननु नच किये उसके साथ चल दिये और भी ५-७ कहार पालकी में लगे थे। सबसे आगे इन्हें भी लगा दिया हाथ में एक डण्डा थमा दिया और कहा—"चल।" और सब कहारों के साथ में वे राजा की पालकी ढोने लगे।"

राजा की पालकी ढोने वाले और तो सब कहार ही थे। वहाँ आस पास कहारों की ही बस्ती थी। कुलपति (चौधरी) ने उन्हें भी कहार ही समझा। उनके गले में जो मैला कुचैला एक जनेऊ पड़ा था उसकी ओर उसने ध्यान ही न दिया। और कहार तो राजा के भय से सावधानी के साथ बड़े ढङ्ग से चलते थे, किन्तु इन महात्मा को तो किसी का भय था ही नहीं कभी पालकी उठाई भी नहीं थी नवसिखिया कहार बनाये गये थे। फिर धर्म का मर्म भी जानते ही थे। अतः पहिले ४ हाथ पृथ्वी को देख लेते तब आगे बढ़ते कोई जीव जन्तु दिखाई देता उछल कर उसे बचाते। इससे पालकी डगमग हो जाती राजा का शरीर मोटा था। कूदने से उनकी लम्बी तोंद हिल जाती और उसमें का पानी बजने लगता। राजा तो सदा से सुख सम्मान के आदी थे। ऐसी धृष्टता करने का साहस साथ में आज तक किसी ने नहीं किया था। यह उनके लिये एक अभूत पूर्व व्यवहार था। फिर भी राजा धर्मात्मा थे, बुद्धिमान थे अतः शान्ति के साथ बोले—"अरे भैया! तुम लोग कैसे चलते हो। सम्हल कर चलो हिलाओ डुलाओ मत।"

राजा के मुख से ऐसी बात सुनकर कहार डर गये। वे समझने लगे हमने कुछ भी त्रुटि की तो अभी डंडे पड़ेगे। इस लिये बड़ी सावधानी से मिलकर एक साथ पैर उठाकर चलने

लगे किन्तु उनका तो कुछ अपराध था नहीं। पालकी तो इन नये बोझ ढोने वाले नवसिखिया बलपूर्वक धीवर बनाये हुए भरतजी के कारण हिलती थी। कहारों के कुलपति ने तो सोचा था—यह युवा है, गठीले अंग वाला है, हृष्ट पुष्ट है, गधे से भी अधिक बोझ ढो सकेगा बैल से भी अधिक वेग से चलेगा। किन्तु ये तो ठहरे अवधूत ही। कभी कुदक के चले कभी उछल के चले कभी खड़े हो जायँ कभी इस कंधे से उस कंधे से बदलें। एक के पीछे सभी को खड़ा होना पड़े। राजा को बड़ा कष्ट होने लगा। उन्हें क्रोध भी आया। फिर भी क्रोध को दबाकर वे बोले "अरे! तुम लोग कैसे हो रे? क्या तुम लोगों ने कभी पालकी नहीं उठाई। ऊँची नीची क्यों कर देते हो तुम लोग कुछ नशा पत्ता तो करके नहीं आये हो?"

राजा की दुबारा यह बात सुनकर आगे एक बूढ़ा-सा बुद्धिमान् कहार लगा था। उसने हाथ जोड़कर निवेदन किया—"प्रभो! हम तो आपकी प्रजा हैं। पालकी ढोना हमारे पैतृक कार्य हैं हमारे हृदय में महाराज के प्रति बड़ी श्रद्धा है। हम बड़ी सावधानी से शिविका को ले चल रहे हैं, किन्तु अभी यह एक नया कहार न जाने कहाँ से आया है, यह जहाँ इच्छा होती है, ठहर जाता है। इस एक के ठहरने से हम सबको भी ठहरना पड़ता है। हम शीघ्र चलना चाहते हैं यह चलता ही नहीं। यद्यपि अभी तनिक देर से ही इसने पालकी उठाई है फिर भी अभी से हाँपने लगा है। महाराज! इसके साथ में चलना हमारे लिये असम्भव है।"

राजा बुद्धिमान विवेकी थे। समझ गये कि और सब तो ठीक है यह एक ही इन सब में निकम्मा है। यह इतना मोटा ताजा होकर बहाना बताता है, कि अंड बंड व्यवहार करे तो मुझे हटा दें, जिससे मैं इस बेगार से बच जाऊँ। अच्छी बात है, मैं

भी तो राजा हूँ मेरे सम्मुख किसी का बहाना नहीं चल सकता है। मुझे कोई छलना चाहे तो उसकी धृष्टता है। बड़े आदमियों को जिद्द होती ही है। राजा का सम्पूर्ण ध्यान उस नये कहार की ही ओर लग गया। वे उसकी गति विधि का अध्ययन करने लगे। अब उन्हें निश्चय हो गया, कि यथार्थ में इसी एक की धूर्तता से पालकी टेढ़ी सूधी हो रही है और सब तो सीधे हैं यही उपद्रवी धूर्त है। संसर्ग दोष से एक व्यक्ति के पीछे सभी को अपमानित होना पड़ता है। समूह में एक दोष करता है, उसका कलङ्क पूरे समूह के मत्थे मढ़ा जाता है।

अब तो राजा को उस नये कहार से स्वाभाविक ही चिढ़-सी हो गई उन्होंने अपने शिविका के सामने का गवाक्ष–झरोखा खोल लिया और उस मोटे ताजे नये युवक कहार धीवर को देखने लगे। उन्हें उसकी करतूत पर क्रोध भी आ गया था।

इस पर राजा परीक्षित ने पूछा—"भगवन्! मोक्ष मार्ग में स्थित इतने विवेकी ज्ञान पिपासु राजा को क्रोध क्यों आ गया?

इस पर हँसते हुए श्रीशुक बोले—"राजन्! कैसे भी ज्ञानी, ध्यानी, विवेकी तथा मुमुक्षु क्यों न हो, रहूगण थे तो राजा ही, उनकी आज्ञा किसी के द्वारा आज तक टाली नहीं गई थी। राजा की आज्ञा का उल्लङ्घन हो जाना उसकी बिना शस्त्र की मृत्यु बताई गई है। महाराज! आपको तो अनुभव ही होगा, ये राजागण अपार सम्पत्ति होने के कारण सुख और सम्मान के आदी हो जाते हैं। अपने चित्त के तनिक विरुद्ध होते ही इनकी भृकुटियाँ चढ़ जाती हैं। आप ही सोचें-शमीक मुनि ने आपका क्या बिगाड़ा था, अपने एकान्त आश्रम में चुपचाप समाधि में मग्न थे। आपसे कभी कुछ माँगने नहीं गये थे। मान लीजिये उन्होंने आपको देखकर झूठी ही समाधि लगाई थी, तो आपका क्या बिगड़ गया। वे अपनी झूठी सच्ची जैसे भी समाधि लगा

रहे थे, अपने लिये आपका सम्मान न किया, आप लौट आते। उनके गले में मरा सर्प डालने की–उनकी परीक्षा लेने की–क्या आवश्यता थी। किन्तु राजन्! इसमें आपका दोष नहीं। जैसा मनुष्य को जीवन भर अभ्यास पड़ जाता है, जैसा व्यवहार उसके समीपवर्ती करते हैं ऐसे ही व्यवहार की आशा वह सबसे रखता है। जब केवल सम्मान न करने पर आपने शमीक मुनि को इतना दण्ड दे दिया तो महाराज रहूगण को भरत जी के कारण शारीरिक कष्ट भी हुआ था। कई बार बरजने पर भी भरतजी अपने व्यवहार को न छोड़ सके। वे उसी प्रकार हरिन की सी उछल कूद करते रहे, तब राजा को क्रोध आना स्वाभाविक ही है। इसमें उनका रत्ती भर दोष नहीं, विवेकी थे, परमार्थ पथ के पथिक थे, तभी इतना अपमान सहन भी कर सके, नहीं तो कोई दूसरा राजा होता, तो डन्डों से मरम्मत करता। हड्डी पँसली सभी तुड़वा देता। बैठे-बैठे राजा को कुछ कहने सुनने की इच्छा हुई। अतः भरतजी पर व्यङ्ग बाण छोड़ते हुए, कुछ क्रोध के आवेग में सूखी हँसी हँसते हुए, उन्हें मूर्ख बनाने के लिये कहने लगे—"अजी कहार महाशय! आप बड़े सुकुमार हैं, देखिये आपके ऊपर कितना बोझ लाद दिया है। सो भी आप अकेले ही ढो रहे हैं इससे आप बहुत थक गये हैं। आपको तो खस की टट्टियों में बिठाकर धूप दीप से पूजा करनी चाहिये। देखिये न आपका सुन्दर शरीर कितना कृश है, सभी हड्डी पँसली दिखायी देती है। नस नाड़ियाँ चमक रही हैं। आप बूढ़े भी बहुत हैं, बल भी आपमें नहीं है। आपके इन साथियों ने आपके साथ घोर अन्याय किया है, ये पालकी में हाथ भी नहीं लगाते। अकेले आपको ही पूरी पालकी ढोनी पड़ रही है। इसीलिये तो आप इतनी उछल-कूद कर रहे हैं। राजाने भरतजी को लज्जित करने को ये सब उलटी पलटी बातें

कही थीं। किन्तु वे तो लज्जा को घोटकर पी गये थे। मान अपमान, डर, भय, क्रोध आदि तो उनके पास होकर भी नहीं निकले थे। उन्होंने राजा की बातों पर ध्यान ही न दिया। राजा मानों आकाश से व्यङ्ग की बातें कर रहा हो। इन इतने व्यङ्ग वचनों का उन पर रत्ती भर भी प्रभाव नहीं पड़ा। वे उसी प्रकार ठहर-ठहर कर उछल कूद करते मस्ती के साथ गजराज की भाँति झूम-झूमकर निर्भय होकर चल रहे थे। क्योंकि उन्हें इस पञ्चभूतों के संघात रूप शरीर में मैं मेरेपन का मिथ्या अध्यास नहीं था।

अब तक तो राजा विवेक के कारण अपने बैठे हुए क्रोध को जैसे तैसे रोके हुए थे। अब उनसे न रहा गया। गरजकर मेघ गम्भीर वाणी में कड़कड़ाते हुए बोले—"क्यों बे निर्लज्ज! तू क्या बहरा है? क्या जान बूझकर अपनी मृत्यु बुलाना चाहता है। जब चूतड़ों पर डंडे पड़ेंगे तब सब मस्ती भूल जायगी। नीच कहीं का? तुझे भय भी नहीं कि तू किसकी आज्ञा की अवहेलना कर रहा है। मैं राजा हूँ सबका स्वामी हूँ, अभी तेरी हड्डी पसली ठीक करा दूँगा। अभी तुझे तेरी अविनय का फल चखा दूँगा। तू बड़ा उन्मत्त हो रहा है, मानों मैं अरण्य में रोदन कर रहा हूँ। अभी तुझे तेरे किये का दंड देता हूँ। मार के सामने भूत भागता है। जब पीठ पर तड़ातड़ कोड़े पड़ेंगे, तेरी बुद्धि ठीक-ठिकाने आ जायगी। तब तू सब चौकड़ी भरना भूल जायगा।"

राजा अपने को सभी का स्वामी समझते थे। उनका विश्वास था राजा के मुख से जो भी सम्बद्ध असम्बद्ध वचन निकले, उस का सभी को बिना ननु नच किये पालन करना चाहिये। राजा का वचन ही वेद वाक्य है। वे उन परमहंस की वृत्ति को बिना जाने ही उनका मोहवश तिरस्कार कर रहे थे। उन्हें भगवान् के भक्तों की पूरी पहचान नहीं थी, वे स्थितप्रज्ञ पुरुषों को उनके लक्षणों से

जान नहीं सकते थे। फिर भी अपने को बड़ा ज्ञानी ध्यानी बुद्धिमान माने बैठे थे। जिसके पास चार पैसे होते हैं वह सभी विषयों में अपने को पण्डित समझता है। इसलिये राजा ने ऐसी बातें इन योगेश्वर से कही थीं, किन्तु उनके मन में इन बातो से कुछ भी विक्षेप नहीं हुआ। क्योंकि वे सर्वत्र श्रीहरि को ही व्याप्त समझते थे। फिर भी उन्हें कुछ लहर आ गई। उन्होंने सोचा होगा—"विवाह के समय स्त्री का एक हाथ पकड़ते हैं, जिससे जीवन भर उसे निभाना पड़ता है। मैंने तो इसे कन्धे पर चढ़ाया है। शरीर पर धारण किया है अब यह गिर गया, तो सत्संग का महत्व ही मिट जायगा, यह इस असार संसार सागर से सदा के लिये पार होना चाहता है। स्वेच्छा से या परेच्छा से जब मैंने इसे अपना लिया—सिर पर चढ़ा लिया और इतने पर भी यह डूब गया, तो परमहंस वृत्ति वालों को यह बड़े कलङ्क की बात होगी। अतः अपने अपमान का मार्जन करने के निमित्त नहीं क्रोध के वशीभूत होकर भी नहीं, केवल कृपावश, सरलता के साथ मन्द-मन्द मुस्कराते हुए राजा के वचनों का उत्तर देने को वे उद्यत हुए।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! इसी का नाम है, साधु स्वभाव से अधिकारी की परीक्षा। देखिये, दस्युओं ने उन्हें बाँध लिया खडग से मारने तक को उद्यत हो गये, वहाँ पर जड़ भरत जी ने एक शब्द भी नहीं कहा, क्योंकि वे जानते थे ये सब अनाधिकारी हैं। इनके सामने कुछ ज्ञान की बात कहेंगे, तो वह उसी प्रकार व्यर्थ हो जायँगी जैसे ऊपर से बोया बीज व्यर्थ हो जाता है। किन्तु राजा रहूगण को परमार्थ तत्व का अधिकारी समझ कर, केवल उसकी अंट-संट अनाप-सनाप व्यर्थ की बातों से ही द्रवीभूत होकर उसे उपदेश देने को तत्पर हुए।"

छप्पय

पद तल दवे न जीव दौरि इत तें उत आवें।
डगमग शिविका होहि भूप बैठे हिलि जावें॥
व्यापो तन महँ क्रोध कहें मैं मारूँ तोकूँ।
मैं हूँ सबको ईश मूर्ख मानें नहिँ मोकूँ॥
स्वामी के अपमान को, तोकूँ मजा चखाउँगो।
डन्डन तै पिटवाऊंगो, जीवित खाल खिचाउँगो॥

आगे की कथा अगले खण्ड में पढ़िये।

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१—भागवती कथा (१०८ खण्डों में)—९५ खण्ड छप चुके हैं। प्रति खण्ड का मू० १.६५ पैसे डाकव्यय पृथक।

२—श्री भागवत चरित—लगभग ९०० पृष्ठ की, सजिल्द मू० ६.५०

३—सटीक भागवत चरित (दो खण्डों में)— एक खण्ड का मू० ११.००

४—बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू० ५.००

५—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ०सं० ३५० मू० ३.४५

६—मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप मू० २.५०

७—कृष्ण चरित—पृ० सं० लगभग ३५० मू० २.५०

८—मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन मू० २.५०

९—गोपालन शिक्षा—गौओं का पालन कैसे करें मू० २.५०

१०—श्री चैतन्य चरितावली (पांच खण्डों में)— प्रथम खण्ड का मू० १.६०

११—नाम संकीर्तन महिमा—पृष्ठ संख्या ९६ मू० ०.९०

१२—श्री शुक—श्री शुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मू० ०.६५

१३—भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.३१

१४—शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ०.३१

१५—मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखद संस्मरण, मू० ०.३१

१६—भारतीय संस्कृति और शुद्धि—(शास्त्रीय विवेचन) मू० ०.३१

१७—राघवेन्द्र चरित—पृ० सं० लगभग १६० मू० ०.४०

१८—भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.३१

१९—गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दों में) मू० ०.२५

२०—भक्तचरितावली प्रथम खंड मू० ४.०० द्वितीत खंड मू० २.५०

२१—सत्यनारायण की कथा—छप्पय छन्दों सहित मू० ० ७५

२२—प्रयाग माहात्म्य— मू० ०.२० २५—प्रभुपूजा पद्धति— मू० ०.२५

२३—वृन्दावन माहात्म्य—मू० ०.१२ २६—श्री हनुमत्-शतक— मू० ०.५०

२४—सार्थ छप्पय गीता— मू० ३.०० २७—महावीर-हनुमान्— मू० २.५०

पता—संकीर्तन भवन झूसी (प्रयाग)

भागवती कथा

पर

युक्तप्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधान मंत्र
राधारमण इण्टर कालेज के प्रधानाचार्य [प्रिंसिपल

पं० शुकदेवजी चौबे

की

शुभ सम्मति

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी द्वारा लिखित 'भागवती कथा'—जो श्रीमद्भागवत की पृष्ठभूमि एवं सरल परिचय कराने के लिये अत्यधिक उपादेय है, मैंने ध्यानपूर्वक पढ़ी। श्रीब्रह्मचारीजी ने भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिये जितने प्रशस्त कार्य किये हैं उनका आभास प्रायः सभी आर्य संस्कृति प्रेमी व्यक्तियों को मिल चुका होगा और यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि 'भागवती कथा' की रचना की भावना से ब्रह्मचारीजी ने अपने उद्देश्य की पूर्ति सफलतापूर्वक की है। यह समझते हुए कि आर्य जाति की रक्षा के लिये हमारी संस्कृति उपेक्षणीय नहीं है, यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि प्रत्येक भारतीय बाल, युवा के लिए 'भागवती कथा' का बड़ा मूल्य है। मनोरंजक एवं सरल शैली में लिखित यह पुस्तक व्यक्ति की निजी निधि होने की क्षमता रखती है। विशेष कर कालेज एवं स्कूल के बच्चों के लिए उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति की दृष्टि से यह अति मूल्यवान् ग्रन्थ है।

मेरा विश्वास है कि प्रत्येक शिक्षा संस्था और प्रत्येक हिन्दी भाषी व्यक्ति जो अपनी संस्कृति का गर्व रखता है इसमें अभिरुचि दिखलायेगा, क्योंकि मानसिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष का मार्ग दिखलाते हुए यह पुस्तक भारतीय जीवन का अच्छा दर्शन कराती है।